भारत–मेरा घर

[Hindi Translation of the Book
AT HOME IN INDIA—By Cynthia Bowles

लेखिका

सिन्थिया बोल्स

अनुवादक

कि० र० टण्डन

पर्ल पब्लिकेशन्स प्राइवेट लिमिटेड, बम्बई–१

मूल्य ७५ नये पैसे

इस

कामना से

लिखित कि विश्व

के बच्चे एक दिन उन लोगों

को समझने की इच्छा लेकर बड़े

हों जिन्हें वे अभी जानते नहीं, और

वे एक दिन बड़े हों अपने

हृदय का सहज

विश्वास खोये

बिना।

अनुक्रम

एक

भारत के बारे में चर्चा

जुलाई १९५१ मे, जब मै पन्द्रह वर्ष की थी, मुझे पहली बार मालूम हुआ कि शायद मुझे भारत जाना पड़े। मै न्यू हैम्पशायर में गर्मियों की छुट्टियाँ बिता रही थी। एक दिन अपने घर के पोर्च मे झूले पर पड़े-पड़े मैने अखबार में पढ़ा :

"भारत में बोल्स की नियुक्ति की सम्भावना"

मैं हैरान रह गयी। यह सही है कि वैदेशिक सेवा में मेरे पिता की नियुक्ति की सम्भावना कोई नयी बात न थी। वसन्त में उनके सामने किसी अन्य देश के राजदूत-पद का प्रस्ताव रखा जा चुका था। उन्हे भारत में राजदूत बनाने का प्रश्न भी हमारी छुट्टियाँ शुरू होने और मेरे हैम्पशायर को रवाना होने से पहले उठ चुका था। लेकिन इस सम्भावना को कोरी अफ़वाह समझकर मैने इस विषय की पारिवारिक चर्चाओं पर विशेष ध्यान नही दिया था। तभी अखबार में यह समाचार पढने को मिला, जिसे अफवाह हर्गिज नही माना जा सकता था। मुझे एकाएक ऐसा प्रतीत हुआ कि मेरे पिता की नियुक्ति बहुत सम्भव है।

तुरन्त मेरे दिमाग़ में कई बाते घूम गयी। यदि मेरे पिता भारत गये तो क्या मेरे भाइयों, बहनों को और मुझे भी उनके साथ जाना पड़ेगा? वहाँ अपना घर कैसा होगा? क्या हमें वहाँ स्कूल जाने को मिलेगा? इन सारे प्रश्नों का तब तक समाधान नही हुआ, जबतक कि मै छुट्टियों के बाद कनेक्टीकट के छोटे-से नगर एसेक्स में अपने घर वापस न आ गयी।

मेरे पिता को, जिन्हें लगभग सभी लोग चेट कहते हैं, काफी भरोसा था कि उनकी नियुक्ति निश्चित ही है। एशिया के विषय में उनको सदा से विशेष रुचि रही है और उनका दृढ़ विश्वास है कि विश्व का भावी इतिहास दक्षिण-पूर्व एशिया में लिखा जायेगा।

सितम्बर में राष्ट्रपति ट्रूमैन ने चेट की नियुक्ति की घोषणा की। मेरी माँ,

मेरे भाइयों और बहनों तथा मुझपर कनेक्टीकट छोड़कर भारत जाने के विचार की अलग-अलग प्रतिक्रिया हुई। कालेज से ग्रेजुएट हो जाने के बाद कुछ साल पहले, मेरी माँ, भारत में कई सप्ताह रहकर आयी थीं और वह फिर वहाँ जाने के लिए उत्सुक थीं। लेकिन चूँकि हमें पिछले कुछ वर्षों में कई बार यहाँ से वहाँ जाना पड़ा था, इसलिए माँ को खेद था कि मेरे छोटे भाई-बहन और मुझे, जिन्हें किसी जगह जमकर रहने का, कभी मौक़ा नहीं मिला था, फिर एक नयी जगह जाना पड़ेगा।

मेरे बड़े भाई और बहन का, जिनके विवाह हो चुके थे, अपना काम और परिवार छोड़कर जाना असम्भव था; किन्तु हमें जो अवसर मिला था, उससे दोनों ही को ईर्ष्या थी। मेरी छोटी बहन सैली, जो उस समय तेरह साल की थी, जाने के लिए उत्सुक थी और उसे उतनी ही उतावली थी, जितनी मेरे पिता को। मेरा छोटा भाई सैम, जो तब बारह साल का था, अपने स्कूल से खूब खुश था; लेकिन नये देश में, और वह भी ऐसे देश में, जहाँ उसे नये-नये खेल सीखने को मिलेंगे, जाने की बात ने उसके मन में बड़ी उमंगें पैदा कर दी थीं।

अपने परिवार में औरों की अपेक्षा मुझमें ही उत्साह की सबसे ज्यादा कमी थी। वास्तव में मेरा मन जाने का नही था; यद्यपि यह बात नही थी कि मैं भारत जाना ही नहीं चाहती थी; बल्कि मैं अपने नगर, अपने स्कूल और अपने मित्रों को छोड़ना नहीं चाहती थी। पिछले ही वर्ष डेढ़ साल के बाद हम हार्ट-फोर्ड (कनेक्टीकट) से आये थे। मेरे पिता वहाँ के गवर्नर थे। सितम्बर में ही मेरा हाईस्कूल का प्रारम्भिक वर्ष शुरू हुआ था और अब मुझे स्थायित्व का अनुभव होने लगा था। मेरे मित्र भी बड़े अच्छे थे, इसलिए मैंने सोचा कि यदि मैं चली गयी तो मुझे उनकी मैत्री से वंचित होना पड़ेगा, जिसे मैं बहुत मूल्यवान मानती थी।

साथ ही मैं यह भी जानती थी कि ऐसा अवसर शायद फिर कभी न मिलेगा। यदि मैंने न जाना ही तय किया तो बाद में मुझे पछताना पड़ेगा। उस पर मैं यह भी महसूस कर रही थी कि जब बड़े भाग्य से मुझे यह अवसर मिला है, तब मुझे उत्साह का अनुभव करना ही चाहिए।

सौभाग्य से निर्णय मुझे नहीं करना पड़ा। मेरे माता-पिता ने मेरी दुविधा

देखकर मेरे बारे में खुद ही तय कर लिया। यह सत्य है कि बाद को मैंने उनके प्रति कृतज्ञता का अनुभव किया; किन्तु उस समय तो मुझे उनके निर्णय से निराशा ही हुई। एसेक्स के मेरे मित्रो ने मुझे बाद में बताया कि अपने जाने की बात मालूम होने के बाद से मैं बिल्कुल गुमसुम निर्जीव मूर्ति की तरह, उदासी की साक्षात् तस्वीर बनकर स्कूल आया करती थी। इस प्रकार मेरी भारत-यात्रा का श्रीगणेश शुभ ढंग से नही हुआ।

मेरे पिता की नियुक्ति के लिए सिनेट की बहुमत से स्वीकृति आवश्यक थी। जब तक ९ अक्तूबर को मतदान नही हो गया, तब तक हमारे घर की दशा बिल्कुल अव्यवस्थित और अनिश्चित रही। अनेक चीजे बाँधनी थी। हमारे कपड़े, हमारी किताबें, छोटा-मोटा फर्निचर, चीनी के बर्तन, बाइसिकलें और बाजे। इनमे से कुछ को तो जहाज़ से भेजना था और कुछ को हवाई पार्सल से। कुछ चीजें, जिनकी हमे रास्ते में ज़रूरत पड़ती, छोटे सूटकेसों में बन्द करने के लिए हमने अलग रख ली थीं। ट्रंकों, सूटकेसों, थैलों से सारा घर भरा पड़ा था। अक्सर सम्बन्धी और मित्र भी, सामान बँधवाने में मेरी माँ का हाथ बँटाने के लिए घर में बने रहते थे।

सामान बाँधने के इस काम के बीच-बीच में बाधा पड़ती रहती थी; क्योंकि हमें शारीरिक परीक्षा करवाने और टाइफायड़, टाइफस, टिटेनस, हैजे, पीतज्वर आदि के टीके लगवाने के लिए डाक्टर के यहाँ भी जाना पड़ता था।

९ अक्तूबर की शाम को हमने सुना कि सिनेट के सदस्यों ने मेरे पिता की नियुक्ति पर स्वीकृति की मुहर लगा दी है। अब ट्रंकों और सूटकेसों को फिर से खोलने क़ी सम्भावना मिट चुकी थी। लोगों से विदाई लेने का सचमुच समय आ गया था, और १३ अक्तूबर के लिए वायुयान में जो स्थान सुरक्षित कराये गये थे उनकी बात पक्की की जा सकती थी।

जब हमारा जाना निश्चित हो गया और अस्तव्यस्तता में कुछ कमी हो गयी तब मैं अक्सर देखती कि मेरी माँ, जिन्हें लगभग सभी स्टेब पुकारते हैं, भारत या एशिया के बारे में कोई न कोई पुस्तक पढ़ने में तल्लीन हैं। १९२७ की उनकी भारत-यात्रा की याद धुँधली हो गयी थी और वह नेहरूजी की 'मेरी कहानी', जान म्युएल लिखित 'इण्टरव्यू विद इण्डिया', लुई फिशर की 'गाँधीजी

की जीवनी' तथा और दूसरी ऐसी पुस्तकें पढ़ती थीं, जिनसे पिछली स्मृतियों को ताज़ा करने में मदद मिली और आज के भारत का उन्हें परिचय मिला।

भारत पहुँचने तक जो थोड़ा-सा समय हमारे पास था उसमें हम सबने वहाँ के बारे में जितना हो सके उतना ज्ञान पुस्तकें पढ़कर और अन्य मार्गों से प्राप्त करने का प्रयत्न किया। सैम, सैली और मुझको बहुत कम जानकारी थी। हाँ, हमने गाँधीजी के बारे में ज़रूर सुना था—जब १९४८ में उनकी मृत्यु हुई थी और नेहरू के बारे में भी जब उन्होंने भारत के नेता के रूप में उनका स्थान ग्रहण किया था। किन्तु ब्रिटिश औपनिवेशिक दासता से दबे भारत के बारे में हमारा ज्ञान नहीं के बराबर था। वहाँ के स्वाधीनता-आन्दोलन के विषय में हमें कुछ मालूम नहीं था। १९४७ में, स्वराज्य मिलने के बाद भारत ने जो असाधारण प्रगति की उसके सम्बन्ध में भी हमारी जानकारी नगण्य थी।

हमने बम्बई और कलकत्ता जैसे बडे शहरों के नाम सुन रखे थे, किन्तु हमें गाँवों का कुछ भी ज्ञान नहीं था। यह हमें बाद को ही मालूम हुआ कि भारत की आत्मा का निवास गाँवों में ही है।

हमने वहाँ की निर्धनता, बढ़ती हुई जनसंख्या, लाखों लोगों की भुखमरी के बारे में तो सुना था; किन्तु भारत के उन नये नेताओं के बारे में लगभग कुछ भी नहीं सुना था, जो उस निर्धनता को मिटाने के लिये कृतसंकल्प हैं। न हमें उन असंख्य ग्राम-सेवकों का ही कुछ पता था, जिन्हें भारतीय जनता के जीवन को सुधारने की सच्ची आशा है।

हमने भारत के साँपों और सँपेरों, साधुओं और महाराजाओं के बारे में सुन रखा था, जिनके विषय में अधिकतर अतिशयोक्ति का प्रयोग ही होता है।

हमने भारत की गर्मी और आँधियों के बारे में तो सुना था लेकिन हम उसकी वसंतमयी निरभ्र ऋतु से अपरिचित थे। लोगों ने वहाँ के रंगबिरंगे फूलों और चिड़ियों, उसके शान्तिपूर्ण गाँवों और इन सब के अतिरिक्त वहाँ के शालीन लोगों के वर्णन में बहुत कंजूसी की थी।

सैली, सैम और मेरा यह सद्‌भाग्य था कि हमें भारत में जाने और यह पता लगाने का अवसर मिला कि भारत और एशिया के बारे में हमारा ज्ञान कितना अधूरा था। मेरा विचार है कि कोई ऐसा उपाय ज़रूर होना चाहिए जिससे उन लाखों अमरीकियों की ग़लतफ़हमियाँ दूर की जा सकें, जिन्हें हमारे समान

अवसर मिलना सम्भव नहीं है। अमरीकी स्कूलों में एशियाई देशों का अध्ययन बढ़ाना या अमरीका के ज़्यादा से ज़्यादा नगरों में भारतीय सूचना-कार्यालय और पुस्तकालय खोलना शायद ऐसे उपाय हो सकते हैं। क्योंकि यह छोटी-छोटी ग़लतफ़हमियाँ एकत्र हो कर अक्सर एक दूसरे को समझने के मार्ग में बाधा बनती हैं और इसके फलस्वरूप दुनिया के लोगों में अविश्वास और घृणा का विस्तार होता है।

अमरीका से रवाना होने के लगभग एक सप्ताह पूर्व हमें विदेश विभाग से जो साहित्य प्राप्त हुआ और जिसे "पोस्ट रिपोर्ट" (अग्रिम सूचना) कहते हैं, उसने भारत सम्बन्धी हमारी जानकारी को बढ़ाया नहीं। यह रिपोर्ट भारत-स्थित अमरीकी दूतावास के लोगों द्वारा तैयार की गयी थी, और सभी कूटनीतिक अधिकारियों को भारत जाने से पहले भेजी जाती थी। शायद और सब बातों से ज़्यादा यह रिपोर्ट यूरोप में सधे हुए संकीर्ण कूटनीतिक क्षेत्रों में भारत के बारे में यह भ्रांति उत्पन्न करती थी कि "उस देश में जा फँसना असुविधाजनक है।" उसमें भारत के जलवायु, भोजन, बीमारियों, सामाजिक रीतियों और कूटनीतिक शिष्टाचारों का वर्णन किया गया था, जो हमने आगे चलकर अनुभव किया कि बहुत ही अतिशयोक्तिपूर्ण है। उस रिपोर्ट में यह सलाह दी गयी थी कि भारत जानेवाले कैसे कपड़े, खाद्य-सामग्री और दवाइयाँ साथ ले जायँ। इससे मेरे पिता का मन भी सैली, सैम और मुझे ले जाने के बारे में हिचकिचाने लगा। आगे चलकर हम अपनी शंकाओं पर लज्जित हुए।

उस "पोस्ट रिपोर्ट" (अग्रिम सूचना) के साथ हमें नयी दिल्ली के उस बँगले की कुछ तस्वीरें भी मिलीं, जिसमें हमें रहना था। उन चित्रों से हमें, इसके सिवाय, और कुछ नहीं मालूम हुआ कि वह मकान इकमंज़िला है; उसकी साज सज्जा अमरीकी घरों जैसी है, उसमें दीवानख़ाना है, भोजन का कमरा है, पुस्तकालय—ऑफिस है और तीन सोने के कमरे हैं।

इस प्रकार, भारत के बारे में किसी जानकारी के बिना, सिवाय उसके जो कि "पोस्ट रिपोर्ट" (अग्रिम सूचना) से हमें मिली थी और मेरे यही मनाते हुए कि मुझे घर न छोड़ना पड़े, मैं रोज स्कूल जाती; गुमसुम और अनमनी-

सी अपने मित्रों से उदास मन मिलती, घर आती और अपना कर्त्तव्य समझ कर सामान बाँधती। चलने के दिन--१३ अक्तूबर तक यही हाल रहा।

तेरह अक्तूबर की भोर अपने समस्त सौंदर्य तथा अरुणिमा के साथ उदित हुई। नीलाभ स्वच्छता के स्थान पर उस दिन आकाश तैरते हुए नन्हें बादलों के टुकड़ों से भरा था। धूप में एक सुखद उष्णता थी। नवोदित सूर्य की किरणें, हमारे घर के चारों ओर घिरे हुए तथा नदी के किनारे पर उगे हुए वृक्षों की पत्तियों को लाल, पीले और गुलाबी रंग से अनुरंजित करके पूर्ण आभा के साथ प्रकाशित हो रही थीं। जलकुक्कुट का समूह वेदनापूर्ण राग निकालता हुआ सरिता के वक्ष पर उड़ रहा था तथा दक्षिणगामी 'ग्रेकल्स' मेरी खिड़की के पास वाले खेत में बैठी हुईं विश्रांति के पलों को गुंजित कर रही थीं।

उस दिन सुबह आँख खुलने पर मैंने यही देखा और यही सुना। मैंने खाड़ी के पार सूर्यालोकित नगर पर दृष्टि डाली और सोचा—काश! मुझे उस नगर को, और अपने आसपास के सौन्दर्य को छोड़ना न पड़े।

प्रातःकाल नौ बजे हमारा घर उन लोगों से भर गया जो विदा देने और शुभकामनाएँ प्रकट करने आये थे। हम सब ने यह प्रकट करने की कोशिश की कि आज का दिन और दिनों जैसा ही है। लेकिन मन ही मन हम जानते थे कि आज के दिन में एक विशेषता है। उस समय इतनी दूर जाने के अपने कौतूहल को दबा रखना बहुत ही कठिन था और मैं घर छोड़कर जाने की अपनी वेदना को छिपाने में कठिनाई का अनुभव कर रही थी।

ग्यारह बजे हमने विदा ली अपने मित्रों से और अपने पालतू कुत्ते और बिल्लियों से। हमने अपना घर छोड़ा, जो नदी के किनारे था। हमने अपना नगर छोड़ा, जिसे एसेक्स कहते हैं और दो घंटे तक मोटर-यात्रा के बाद तो हमारा राज्य कनेक्टीकट भी पीछे रह गया।

हवाई अड्डे पर पहुँचने से लेकर, चार बजे पेरिस के लिए अविराम उड़ान वाले वायुयान में रवाना होने तक, क्या-क्या बातें हुईं और क्या-क्या हुआ, मुझे कुछ याद नहीं। मुझे बस इतना याद है कि हमने अपने सामान की जाँच की, अपने पासपोर्ट सम्हाले और अपने परिवार के उन लोगों और मित्रों से,

जो हमारे साथ न्यूयार्क तक आये थे—अन्तिम बार मिले। जाने का समय हो गया था और हम सीढ़ियों से चढ़कर वायुयान में पहुँच गये। थोड़ी ही देर में वायुयान बड़े शोर के साथ उड़ चला और हम अपने मित्रों तथा अपने घर से ऊँचे, बहुत ऊँचे, दूर, बहुत दूर होते गये।

पेरिस, जिनेवा, रोम, काहिरा, बसरा, ईराक, तहरान, सउदी अरब आदि जगहों पर हमारा जहाज़ थोड़ी थोड़ी देर ठहरा और फिर एक दिन आधी रात को जहाज की परिचारिका ने हमें सूचना दी कि अब हम बम्बई पहुँच रहे हैं।

दो

पहली झांकी

बम्बई की गर्म रात में हम जहाज से उतरे। हम थके हुए थे। कुछ रात बाकी थी। जिन लोगों को हमारे लिए उस घड़ी तक इन्तजार करना पड़ा था उनका हमने मुस्करा कर अभिवादन किया; लेकिन हमारी वह मुस्कराहट बहुत कुछ शुष्क थी। सैम, सैली और मेरी मुस्कराहट तो होटल जाने के लिए मोटर में सवार होते ही उसके अँधेरे में विलीन हो गयी। सोने के लिए कुछ घंटों का समय हमारे पास था। नाश्ते के बाद दूतावास के हवाई-जहाज़ से हमें दिल्ली जाना था।

लगभग आधे घंटे में हम हवाई अड्डे से, नगर में होते हुए बम्बई के बन्दरगाह पर स्थित अतिशय भीमकाय और भव्य ताजमहल होटल में पहुँच गये। घंटों पहले से मैं भारत के प्रथम दर्शन के बारे में चिन्तन कर रही थी। आखिर कैसा होगा भारत? मुझे उसके बारे में कुछ भी तो जानकारी नही थी। मैं बार-बार उसकी दयनीय निर्धनता के बारे में सुन चुकी थी। मेरे लिए अत्यधिक निर्धनता एक तरह से अस्पष्ट और अवास्तविक-सी चीज़ थी; क्योंकि मैने उसे देखा तो था, लेकिन मेरा कभी उससे निकट का अनुभव नहीं हुआ था। यह विचार ही बड़ा डरावना था कि ग़रीबी का भयंकर भार लोगों को ढोना पड़ता है और उनके साथ बच्चों को भी पिसना पड़ता है।

अन्त में, मैने निश्चय किया कि मुझे सोचना बंद करके धीरज के साथ उसकी प्रतीक्षा करनी चाहिए। यदि हम किसी भी प्रकार की परिस्थिति के लिए तैयार हों तो हमको न तो आश्चर्य होता है और न निराशा।

इसलिए जब हम मूंज की चारपाइयों पर, दरियों पर और सीमेन्ट की नंगी सड़कों पर सोये हुए सैकड़ों स्त्री-पुरुषों और बच्चों के बीच से निकले तो मुझे बहुत अधिक आश्चर्य नही हुआ।

उस रात को गर्मी बेहद थी और मै इस नतीजे पर पहुँची कि घर की बंद दीवारों में घुटने के बजाय बाहर सोने में ज़्यादा ठंडक मिलती है। किन्तु बड़े-बड़े घर कहीं-कहीं ही दिखलाई पड़ रहे थे और जो सैकड़ों लोग सो रहे थे उनके लिए अपर्याप्त थे। यहाँ तक कि सड़क के किनारे-किनारे बनी हुई झोपड़ियाँ भी उन सब के लिए पूरी नहीं पड़ सकती थी। तब मैंने समझा कि बहुतों के पास न सड़कों के सिवाय कोई घर है, न फुटपाथ के सिवाय कोई बिछौना और न आकाश के सिवाय कोई छत।

लेकिन मैं थकी हुई थी, इसलिए जो ग़रीबी हमने उस रात देखी थी उसके बारे में ज़्यादा देर न सोच सकी और न इस बारे में कि हमारे ठहरने के होटल जैसा ऐश्वर्य और इतनी ज्यादा ग़रीबी का अस्तित्व एक साथ कैसे हो सकता है?

ताजमहल होटल बम्बई के बन्दरगाह पर बना विक्टोरिया शैली का एक भव्य प्रासाद है। नंगे पर रहनेवाले नौकरों ने चौड़े संगमरमर के बरामदे से होकर हमें हमारे ऊँचे-ऊंचे विशाल कमरों में पहुँचाया। खिड़की के मार्ग से चाँदनी से आलोकित बन्दरगाह पर विहंगम दृष्टि डाल कर हम सब सो गये।

चार घण्टे की नींद ने हमें बिलकुल तरोताज़ा कर दिया। दिन में भी ताज़गी थी। चमकते हुए गर्म सूर्य की किरणें बन्दरगाह की छोटी-छोटी लहरों पर झिलमिला रही थीं और हमारी खिड़की के नीचे लगे, बगीचे के फूलों का रंग निखार रही थीं। सड़क में जीवन और जाग्रति आ गयी थी; और वह प्रातःकालीन कार्यशीलता से चचल हो उठी थी।

नाश्ता करके हम उसी रास्ते से हवाई अड्डे को लौटे, जिस पर कुछ घण्टे पहले ही हम निकल चुके थे। निर्धनता तो अब भी थी, लेकिन वह मनहूसियत, वह सन्नाटा, वह रात की दम घोटनेवाली शून्यता खत्म हो चुकी थी; उसी जगह एक प्रकार की हलचल, ताज़गी और लोगों की दौड़-धूप शुरू हो गयी थी।

बातचीत, हँसी-खुशी और शोरगुल ने रात के सन्नाटे का स्थान ले लिया था और जो मनहूसियत हमने थोड़ी देर पहले देखी थी उसका स्थान ले लिया था—रंगबिरंगी साड़ियों की चमक और तड़क-भड़क ने, जिन्हें महिलाएँ बड़े आकर्षक ढंग से पहिने थीं।

पैदल चलने की पटरियों पर, जिन्हें हम पिछली बार सोये हुए मनुष्यों से भरी हुई देख चुके थे, माताएँ सबेरे का भोजन बनाने में व्यस्त थीं। पुरुष काम पर जाने की तैयारियाँ कर रहे थे या काम में लग चुके थे। बडी लड़कियाँ अपनी माताओं का हाथ बँटा रही थी और अपने छोटे भाई-बहनों की देखभाल कर रही थीं। बच्चे हँस-खेल रहे थे। कुछ दूर, शहर से बाहर निकल कर हमने लड़कों और नौजवानों को, बचकाने देशी कुत्तों की सहायता से मवेशियों, भेड़ों और बकरियो के झुण्डों को शहर में बिक्री के लिए ले जाते देखा। तब मैंने जाना कि निर्धनता निराकार नहीं है। वह मानव रूप में ही अपने को व्यक्त करती है। इन्सान ही ग़रीबी के तत्व रूप हैं—हाड़-माँस के मानव, वास्तविक लोग जो खाते-पीते हैं, चलते-फिरते हैं, बोलते-चालते हैं—ऐसे मानव जो जीवित हैं, दुःख झेलते हैं, जिनके अन्तर में प्रेम, हर्ष और शोक की भावनाएँ उठती हैं। परन्तु ये मानव भिन्न हैं उन मानवों से, जिन्हें मैं आज तक देखती रही हूँ।

हमने आकाश से उस विशाल नगरी को देखा और नयी दिल्ली के लिए उत्तर-पूर्व की ओर रुख किया। दोनों नगरों के बीच अधिकांश मार्ग में हम छोटे-छोटे घरों के समूहों के ऊपर से गुज़रे। ये थे भारत के गाँव। प्रत्येक गाँव के चारों ओर भूरे-हरे खेत फैले हुए थे। कहीं-कहीं धरती पर बल खाती हुई पतली-सी नदी भी दिखाई दे जाती थी।

कुछ घण्टों बाद हम दिल्ली के हवाई अड्डे पर उतरे। नींद की कमी ने हमें बुरी तरह जकड़ लिया था। हम उनींदे हो रहे थे और हमें गर्मी लग रही थी। बम्बई में हुए अनुभव के बाद हम इस बारे में बुरी तरह चिन्तित थे कि हमारा नया घर किस तरह का होगा! हमारी सबसे बड़ी इच्छा यही थी कि ठडे पानी से नहायें, कुछ देर सोये और तसल्ली का अनुभव करें।

जब हम वायुयान से उतरे, फोटोग्राफरों और संवाददाताओं की भीड़ हमारे स्वागत के लिए जमा थी और अमरीकी दूतावास के लोगों की लम्बी कतार

लगी हुई थी। इस प्रकार का स्वागत बहुत ही प्रभावशाली था जिसकी हमने कल्पना तक नहीं की थी।

उस नयी अपरिचित, अनिश्चित दुनिया में, जिसमें हम आये थे–सैली, सैम और मुझे एक अत्यधिक मैत्रीपूर्ण चेहरा दिखलाई पड़ा। वह था मेरे पिता का ड्राइवर—लम्बा-चौड़ा, दयालु और शान्त। उसका नाम था जीवन सिंह। उसने उस दिन हमें हवाई अड्डे से छः मील दूर, १७ रैटेन्डन रोड पर हमारे नये घर पहुँचाया।

चूँकि दोपहर का वक्त था और गर्मी खूब पड़ रही थी, इसलिए शहर में सड़क पर ज़्यादा लोग नही मिले। दो कुली अपने सिर पर बड़े-बड़े बोझ रखे चले जा रहे थे; और एक साइकिलवाला एक और व्यक्ति को पीछे बिठा कर ले जा रहा था। हम बड़ी आसानी से उस बड़ी गाड़ी के आगे निकल गये जिसे धीमी चालवाले दो चौपाए खीच रहे थे। उन चौपायों की पीठ पर कूबड़ निकले हुए थे। जीवन ने बताया कि ये बैल कहलाते है। जो लोग हमें रास्ते में मिले उनमे से ज़्यादातर सड़क के किनारे छाया में आराम कर रहे थे।

रास्ते मे गाँव थोड़े से ही थे। अधिकांश ज़मीन सूखी और पथरीली थी, जिस पर अनगिनत झाड़ियाँ और कही-कही पेड़ भी दिखाई पड़ते थे।

चूँकि हमारा भावी घर नयी दिल्ली के निकटतम छोर पर था, इसलिए उस दिन हमें नगर बहुत कम देखने को मिला। जितना भाग भी हमने देखा वह हमारे विचार से वाशिंगटन, डी. सी., के भागो जैसा ही आधुनिक और साफ-सुथरा था। मेरे पिता ने हमें बताया कि देश की राजधानी के रूप में नयी दिल्ली का निर्माण पिछले बीस वर्षों के भीतर ही हुआ है।

मैं अपनी "कुछ भी सामने आ सकता है" सोचने की मनोवृत्ति पर एक बार फिर प्रसन्न हुई। जब हम १७ रैटेन्डन रोड के अहाते के छोटे रास्ते पर मुड़े, मैंने देखा कि हमारा नया घर ऊपरी टीम-टाम से रहित, घर जैसा घर था। इससे मुझे बड़ी ख़ुशी हुई; लेकिन सामने की सीढ़ियों पर ग्यारह आदमी बड़ी मुस्तैदी से क़तार बनाकर खड़े थे। उनकी वर्दियाँ सफ़ेद थीं। उनके सजे हुए साफे गहरे लाल, सफ़ेद और नीले रंग के थे। वे लाल, सफ़ेद और नीले रंग के ही कमरबन्द बांधे थे। उनका परिचय हमसे नौकरों के रूप में कराया गया।

उनमें से एक व्यक्ति ने, जो हमें मालूम हुआ, हेड बटलर था, और जिसका

नाम शकूर था, आगे बढ़कर उत्साह से हमारा अभिवादन किया और हमें घर में ले गया। भीतर आश्चर्यजनक ठंडक थी; क्योंकि घर वायु-अनुकूलित (एयर कन्डिशण्ड) था। हमें अपना नया घर पसन्द आया, यद्यपि वह ज़रूरत से ज़्यादा सजा-धजा था और ऐसा नहीं लगता था कि उसमें कोई रह रहा हो। हम बाक़ी नौकरों से भी मिले, जिनमें से अधिकांश अंग्रेज़ी बोल लेते थे। फिर हमने मध्याह्न का भोजन किया; खाना पूरी तरह अमरीकी ढंग का था। इसके बाद सामान खोलने की बारी आयी।

ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये, हम नये वातावरण के अभ्यस्त होते गये। किन्तु हफ़्तों तक मेरा भाई और बहन तथा मैं उस वातावरण में प्रसन्न नहीं हो पाये। हम अपने को अन्यमनस्क और अजनबी महसूस करते थे। घर से बाहर मैं अनुभव करती कि मैं एक ऐसी दुनिया में हूँ, जो मैत्रीपूर्ण होते हुए भी वास्तविकता से दूर है।

जब हम हार्टफोर्ड गये थे, तब भी मुझे ठीक ऐसा ही अनुभव हुआ था। यदि कुछ चीज़ सत्य थी, तो वह थी मैं, मेरा परिवार और मेरा घर। शेष सब जैसे अनिश्चित और अयथार्थ प्रतीत होता था।

उन दिनों आरंभ मे, कुछ सप्ताह तक हम दिल्ली में जिन अमरीकी लोगों से मिले, वे भी हमें वैसे ही अनजान लगे, जैसे कि भारतीय। जिन लोगों से हम अपने देश मे परिचित थे, उनसे ये दोनों ही वर्ग बिलकुल अलग लगते थे। मुझे शीघ्र ही पता लग गया कि मेरे चारों ओर एक व्यूह बनता जा रहा है। मैंने समझ लिया कि यदि मुझे खुश रहना है, तो मुझे उसके बाहर निकलना होगा।

जैसे-जैसे दिन बीतते गये, मौसम ठंडा और सध्याएँ मनोरम होने लगीं। हम अक्सर अपने पड़ोस में और अपने घर के पीछेवाले सुन्दर उद्यान में टहलने को जाने लगे। रैटेन्डन रोड बहुत शान्त और छायादार जगह थी। उस पर आवागमन बहुत कम रहता था। कभी-कभी कोई कार या लारी, चरमर करती हुई बैलगाड़ी या दो पहियों वाले, घोड़ा-जुते ताँगे की खड़-खड़ उस शान्ति को भंग कर देती थी। लोग अपनी बाइसिकलों पर गुज़रते, कभी तेज़ी से, कभी धीमे; यह उनके स्वभाव और मार्ग की दूरी पर निर्भर होता था। कभी-कभी

में छोटे बच्चों की हँसी-खुशीवाली बातें भी सुनती थी, लेकिन उनकी भाषा नहीं समझती थी।

हमारे मकान के एक तरफ़ चीनी दूतावास के सदस्य रहते थे। दूसरी तरफ़ एक भारतीय परिवार रहता था; जिसके बच्चे शीघ्र ही सैली और सैम के मित्र हो गये। सड़क के उस पार संयुक्तराज्य के सूचना-विभाग में काम करनेवाला एक अमरीकी परिवार रहता था। भारतीय डॉक्टर और उसका एक परिवार भी हमारे सामने ही रहता था। उसका लड़का और सैम अभिन्न मित्र हो गये।

समय पाकर मुझे रैटेन्डन रोड से लगाव हो गया। मेरे मस्तिष्क में उसका साहचर्य कुछ ऐसी ध्वनियों और दृश्यों से हो गया जिन्हें भुलाना कठिन है। पहले भी हमने किसी जगह अजनबी की तरह जा कर वहाँ के नये जीवन और वातावरण को स्वीकार किया था। अतः यहाँ के नये जीवन और वातावरण को अंगीकार करना हमने सीखा। लेकिन उन शुरू के हफ़्तों में सैम, सैली और मैं उस वातावरण को समझ नहीं सके। उसे समझे बिना खुश रहना सम्भव न था। हमें बहुत कुछ सीखना और समझना था। एक बात जो हमने समझी तो सही; किन्तु जिसे हम आसानी से स्वीकार नहीं कर सके, वह थी इतने ज्यादा नौकरों की उपस्थिति। हमारा परिवार छोटा था और घर भी बड़ा नहीं था। हम अपना काम खुद ही कर लेने के आदी थे। इस लिए हमें इस में ज़रा भी आनन्द नहीं आता था कि कोई हमारे लिए मोटर चलाये, कोई सौदा-सुलफ लाये, कोई हमारे लिए खाना पकाये, कोई मेज़ पर भोजन परोसे, कोई हमारे कमरों को सम्हाले-सँवारे, और कोई हमारे लिए बगीचे में पानी दे। यह सब हमें अनावश्यक लगता था। हमें जल्दी ही इस बात का विश्वास हो गया कि हमारी अनौपचारिकता और समानता की अमरीकी धारणाएँ हमारी कल्पना और समझ से भी ज्यादा दृढ हैं। हमें यह अटपटा लगता था कि नौकर हमारा सारा काम करे और हमें अपने से ऊँचा समझे।

किन्तु हमें जल्दी ही पता लग गया कि अधिकांश भारतीय यह विश्वास करते हैं कि उनका जन्म एक विशिष्ट जाति, सामाजिक श्रेणी अथवा स्थिति में हुआ है और वे साधारणतया उससे नीचे दर्जे के कार्य करना पसन्द नहीं करते। हमें यह भी मालूम हुआ कि यह विश्वास और इसके साथ ही भारत

की सारी जाति-व्यवस्था तेज़ी से ढीली पड़ रही है। वास्तव में जात-पाँत की व्यवस्था कानूनन समाप्त हो चुकी है।

फिर भी जहाँ तक नौकरों का सम्बन्ध है; हर नौकर सिर्फ़ अपना विशेष प्रकार का काम ही करेगा, धोबी खाना नहीं पकायेगा, रसोइया कपड़े नहीं धोयेगा, बटलर बगीचे का काम नहीं करेगा, माली खाना परोसने के काम में हाथ ही नहीं लगायेगा, इत्यादि। और यदि हम, जिनका आदर किया जाता था और जिनके दर्जे को ऊँचा समझा जाता था, हस्तक्षेप करते और कुछ काम खुद ही करते तो नौकर बुरा मानते। वे या तो यह मानते कि, हम उनके काम की आलोचना कर रहे हैं या यह कि हम अपने को नीचा गिरा रहे हैं।

जब हम व्यक्तिगत रूप से नौकरों को ज्यादा अच्छी तरह जान गये, तब हमने उन्हें अपने अमरीकी रहन-सहन के ढंग को समझाया कि किस प्रकार अमरीका मे लोग अपना अधिकांश या सारा घरेलू काम खुद ही करते हैं; किस प्रकार उन्होंने अपने घरेलू काम को आसान बनाने के लिए घरेलू काम की मशीनें बनायी हैं। इसके बाद वे अच्छी तरह समझ गये कि हम क्यों अपना इतना सारा काम खुद करने पर ज़ोर देते हैं और आगे चल कर उन्होंने इसको बुरा मानना छोड़ दिया। उनमे से कुछ के लिए दूसरे घरों में हमने अच्छी नौकरियाँ खोज दी।

उनमें यह समझ धीरे-धीरे आयी। कुछ नौकर हमारे अमरीकी तरीकों को वास्तविक रूप में समझे बग़ैर केवल हमारी बातों के अभ्यस्त ही हुए। एक दिन मै अपने मकान के पिछवाड़े वाले आँगन में, उस तरफ़, कुछ नौकरों के बच्चों के साथ खेल रही थी, जहाँ वे अपने माता-पिता के साथ रहते थे। जिस गेंद से हम खेल रहे थे वह उस नाली में जा गिरी, जो बाहर गली की मोरी तक गयी थी। उन छोटे बच्चों में से एक, जिसका नाम लीला था–गेंद को पकड़ने के लिए मेरे साथ आ गयी। तब मैंने ध्यान दिया, वैसे मैं पहले भी कई बार देख चुकी थी, कि वह मोरी कितनी गन्दी और कीचड़ से भरी हुई थी।

मैंने लीला के सामने सुझाव रखा, "अगर हम इसे साफ़ करके उम्दा बना

द तो कैसा मज़ा आये ?" वह बोली, "अरे, नहीं बहनजी ! तुम ऐसा काम हर्गिज़ मत करना।"

"यह तो खेल है, काम थोड़े ही है," मैंने कहा; वह बोली, "अच्छा" और हमने सफ़ाई शुरू कर दी।

काम ठीक चल रहा था कि ड्राइवर जीवन की बीबी आ पहुँची और हम लोगों को काम करते देख कर दंग रह गयी। हमारे हाथ कीचड़ में सने हुए थे और चेहरे गन्दे थे। दूसरे बड़े-बूढ़े भी दौड़ कर आ गये। उन्होंने हमें बुरी तरह डाँटा और मुझे तुरन्त काम बन्द करके हाथ-मुँह साफ़ करने के लिये कहा।

उन्होंने मुझसे कहा, "यह काम तुम्हारा नहीं, मदन का है"। (मदन भंगी था और नीच जाति का था। वही यह सब गन्दा काम करता था।)

किन्तु तभी हेड बटलर शकूर अहाते में आ पहुँचा और उसने उन्हें समझाया, "बहन जी के देश में लोग अपने हाथ गन्दे करने को बुरा नहीं समझते।" उसने अमरीकी तौर-तरीकों को जैसा कुछ समझा था, वह सब उन्हें बताया।

शकूर, जीवन और दूसरे नौकरों ने मुझे व्यूह से बाहर निकलने में बड़ी मदद की। समय पाकर उनमें से कुछ तो मेरे बहुत ही अच्छे मित्र बन गये।

तीन

वापस स्कूल में

हमारे नयी दिल्ली पहुँचने के कुछ समय बाद स्कूल का प्रश्न उठा। सैली, सैम और मैं अपने को अजीब परिस्थिति में महसूस करते थे और अपने नये वातावरण में हमें अपने घर की याद सताती थी। हमने सोचा, शायद स्कूल और वहाँ के नये संगी-साथी हममें वह भावना उत्पन्न कर सकें, जिससे हमारा बिरानापन घटे और हम ज़्यादा खुश रह सकें।

हमने अनुभव किया कि अभी एकाध वर्ष हमारी स्कूली शिक्षा का महत्व इतना नहीं होगा। ज्योमेट्री और लैटिन तो हम कहीं भी सीख सकते हैं; किन्तु

भारत की जानकारी प्राप्त करना एक ऐसा अनुभव है जो केवल ऐसे बिरले अवसर से ही प्राप्त हो सकता है—जैसा हमें मिला था, और अपने इस सद्भाग्य से हम अधिक से अधिक लाभ उठाना चाहते थे।

यह विचार करके हमने दिल्ली और दिल्ली के निकट के स्कूलों के बारे में पूछताछ शुरू कर दी। अधिकांश अमरीकियों ने वुडस्टाक स्कूल जाने की सलाह दी। यह श्रेष्ठ आवास स्कूल दिल्ली से लगभग तीन सौ मील उत्तर हिमालय पर्वत की सुन्दर घाटी में है। उत्तर भारत में रहने वाले लगभग सभी अमरीकी अपने जूनियर और सीनियर हाईस्कूल के बच्चों को इसी स्कूल में भेजा करते थे। यह स्कूल मुख्यतः अमरीकी लोगों के लिये था और उसमें पाठ्यक्रम एक अमरीकी हाईस्कूल के प्रारम्भिक पाठ्य-विषय के समान ही था।

किन्तु हमें पता चला कि उसमे ज्यादा से ज्यादा एक चौथाई विद्यार्थी भारतीय थे, और अध्यापक तथा कर्मचारी अधिकतर अमरीकी थे। वुडस्टाक मे हम अपनी हाईस्कूल-शिक्षा को जारी रख सकते थे और समय आने पर हमें अमरीका के किसी भी कालिज मे प्रवेश पाने में कोई कठिनाई नहीं होती। किन्तु हम भारत के बारे में कुछ भी न सीख पाते। जहाँ तक परम्परागत शिक्षा का सम्बंध था वह तो हम कनेक्टीकट में अपने घर रहकर ही प्राप्त कर सकते थे।

एक भारतीय महिला ने, जिससे स्टेब का दूतावास मे मिलना हुआ था, नयी दिल्ली के किसी ईसाई स्कूल में भरती कराने की सलाह दी। इस प्रकार के वहाँ दो स्कूल थे। दोनों को कैथोलिक मिशनरी चलाते थे। स्कूल दोनों अच्छे थे, किन्तु उनमें विद्यार्थियों की संख्या स्थान से अधिक थी। जब स्टेब ने हमें वहाँ भरती कराने की बात की तो वहाँ के मंत्री ने उत्साहजनक उत्तर नही दिया।

चूँकि हम तो ऐसे ही स्कूल में जा सकते थे, जहाँ पढ़ाई अंग्रेजी में होती हो, इसलिए हमारे सामने सिर्फ़ तीन स्कूल और थे। लड़कियों का लेडी इरविन सेकेन्डरी स्कूल श्रेष्ठ स्कूल था। गृह-अर्थशास्त्र की शिक्षा उस की विशेषता थी; सैली को और मुझे इसमे रुचि थी। लेकिन हम तीनों एक ही स्कूल में जाना चाहते थे। इसलिए हमने किसी सहशिक्षा वाले स्कूल में भरती होने का फैसला किया।

नयी दिल्ली का माडर्न स्कूल प्रगतिशील संस्था थी। वह रूढ़िवादी अंग्रेजी

स्कूलों की शैली की नहीं थी। उसके पाठ्यक्रम के विषय कालेज जाने की तैयारी के वैसे विषयों तक ही सीमित नही थे, जैसे कि अधिकांश अन्य स्कूलों मे थे। इसका पाठ्यक्रम मुझे इस नयी पीढ़ी के लिए बहुत उपयुक्त लगा, जिसे स्वतंत्र और ग़रीबी से मुक्त भारत का निर्माण करना था। दुर्भाग्य से हमें यह ग़लत सूचना मिली कि माडर्न स्कूल केवल हिन्दी में शिक्षा देता है, जो उत्तर-भारत की मुख्य भाषा है। हमने समझा, यह स्कूल भी छूटा, कम-से-कम उतने महीनों के लिए तो छूटा ही, जितने में कि हम हिन्दी सीखें।

आखिर जो स्कूल हमने चुना, वह था दिल्ली पब्लिक स्कूल। दरअसल अमरीकी अर्थ में यह स्कूल नहीं था, क्योंकि उसमें पच्चीस रुपये महीना फ़ीस ली जाती थी। उसमें सहशिक्षा थी और हमारे घर से दो ही मील पर था; इसलिए आने-जाने की असुविधा नहीं थी। इसमें भी विद्यार्थियों की संख्या अधिक थी; किन्तु कक्षाएँ तम्बुओं में लगती थीं, जो विद्यार्थियों की संख्या के अनुसार बढ़ाए तथा घटाए जाते थे।

जिस समय हमने दिल्ली पब्लिक स्कूल में प्रवेश किया उस समय वहाँ के शिक्षक और तेरह सौ विद्यार्थी, सभी भारतीय थे, सिवाय एक इण्डोनेशियाई परिवार के बच्चों के, जो आगे चलकर हमारे घनिष्ठ मित्र हो गये। ये विद्यार्थी कई धर्मों के थे—हिन्दू, मुस्लिम, सिख, बौद्ध और ईसाई। वहाँ के प्रिन्सिपल एक अंग्रेज़ सज्जन थे, जो कभी बहुत खुश रहते थे, तो कभी बहुत कठोर। स्कल को वह ऐसे चलाते थे, मानो वह ग्रेट ब्रिटेन में कोई निजी स्कूल चला रहे हों।

स्कूल जाने का वह पहला दिन मुझे ख़ूब याद है। पड़ोस के दो लड़के, जो पब्लिक स्कूल में पढ़ते थे, पहले ही मेरे भाई सैम के मित्र बन चुके थे। वे तीनों साढ़े आठ बजे अपनी बाइसिकलों पर स्कूल चले गये। स्कूल नौ बजे लगता था, इसलिए कुछ देर में, सैली के साथ मैं भी चल पड़ी।

चूँकि हमारी अपनी बाइसिकलें अमरीका से आयी नहीं थीं, इसलिए हमने अपने लिए नयी दिल्ली के बहुत कुछ पश्चिमी ढंग के बाज़ार कनाट प्लेस के एक साइकिलवाले से दो साइकिलें किराये पर मँगा ली थीं। ये साइकिलें पुरानी थीं और हम ज्यादा दूर नहीं गये होंगे कि सैली की चेन ढीली होकर उतर गयी। एक तो हमें साइकिल की मरम्मत का कोई अनुभव नहीं था, दूसरे एक अपरि-

चित-सी दुनिया में क़दम रखने पर हम सहमे हुए-से थे। अतएव इस मुसीबत से हम बुरी तरह घबरा गये।

अब हमारे सामने प्रश्न यह था : क्या हम साइकिलों को लिये-लिये पैदल घर लौटें और शकूर से साइकिलें ठीक कराएँ (ऐसी दशा में, पहले दिन ही स्कूल पहुँचने में देर हो जाती) या उन्हें लिये-लिये स्कूल का ही बाक़ी रास्ता पैदल तय करें ? हम इसी पसोपेश में थे कि सैम का एक नया मित्र स्कूल जाते हुए उधर से गुज़रा। उसने हमें पहचानकर हमारी परेशानी का सबब पूछा। हमने उसे चेन दिखाई। उसने पलक झपकते ही चेन चढ़ा दी। इस पर हमें बड़ी शर्म आयी। उसे धन्यवाद देकर हमने अपना रास्ता लिया और ठीक समय पर स्कूल पहुँच गये। हमने अपनी साइकिलें दूसरी सैकड़ो साइकिलों के साथ खड़ी कर दीं और अपनी-अपनी कक्षा के तम्बू में जा पहुँचे।

स्पष्ट था कि यह बात फैल चुकी थी कि तीन अमरीकी स्कूल में दाखिल हुए हैं। मैं उच्चतम कक्षा में भरती हुई थी, जो अमरीकी हाईस्कूल के जूनियर या प्रारम्भिक वर्ग के बराबर थी। कक्षा में चौदह लड़के और छ: लड़कियाँ थी। वे सब लड़कियाँ मेरे पहले ही आ चुकी थी। अध्यापिका के क्लास में आने से पूर्व हमें कोई एक मिनिट का समय मिला और इतने में हमने लजाते-लजाते एक दूसरे का अभिवादन किया और बहुत संक्षेप में अपना परिचय दिया।

जब लड़कियो ने हमारी कक्षा की वृद्धा अध्यापिका को आते देखा, उन्होंने मुझसे तुरन्त अपनी जगह बैठ जाने को कहा। ज्यों ही अध्यापिका ने तम्बू में प्रवेश किया, मे भी कक्षा के साथ खड़ी हो गयी। अध्यापिका ने अपने काग़ज़ों को ठीक-ठाक किया और बैठ गयीं; किन्तु मैं तब चकित हुए बिना न रह सकी, जब लड़के और लड़कियों ने एक स्वर से "गुडमार्निङ्ग मैडम !" कहकर उनका अभिवादन किया।

दिल्ली पब्लिक स्कूल के विद्यार्थी अपने शिक्षकों के साथ जो हद से ज्यादा औपचारिक व्यवहार करते थे, वह मेरे लिए बिलकुल नई चीज़ थी, और सच तो यह है कि मैं कभी उसकी अभ्यस्त नहीं हो पायी। यह बात मुझे हमेशा चुभती थी कि हम बिलकुल बच्चों की तरह अपनी शिक्षिका की मौजूदगी में उसके प्रति बेहद आदरभाव दिखाने का स्वांग करते, लेकिन उसकी पीठ पीछे या जब वह कक्षा में नहीं होती, तब अपनी मनमानी करते।

हाज़िरी हो जाने के बाद हम दस साल के बच्चों की तरह क़तार बनाकर एक तम्बू के पीछे की खुली जगह में गये। वहाँ सारा स्कूल आधा घेरा बनाकर प्रार्थना के लिए जमा था। जब हम सब शांत हो गये, हमारे अंग्रेज़ प्रिन्सिपल ने एक प्रार्थना सुनायीं और फिर स्कूल से दो और प्रार्थनाएँ करवायी, जिनमें से एक 'लार्ड्स प्रेयर' थी। हम सब बच्चे ही तो थे, प्रार्थना में हमारी ज़रा भी रुचि नहीं थी। तोते की तरह बग़ैर सोचे-समझे हमने उन शब्दों को दोहरा लिया। शिक्षिका की पीठ के पीछे हम एक दूसरे की तरफ़ आँखें मटकाते और एक दूसरे के बालों को खींचते; हाँ, पहले ही दिन हमने यह शरारत नहीं की।

प्रार्थना के बाद मेरा पहला घण्टा खेल-कूद का था, जिसमें हमने बास्केट-बाल से मिलता-जुलता खेल खेला। इसके बाद भूगोल का घण्टा आया, फिर भारत के इतिहास का और अन्त में अंग्रेज़ी व्याकरण का। ये सब के सब विषय अनिवार्य थे।

बारह बजे से ज़रा पहले हमें लंच (मध्याह्न-भोजन) के लिए पौन घण्टा मिलता। सभी लड़कियाँ अपने-अपने भारतीय ढग के भोजन के डिब्बे या तो साथ लायी थीं या उनके नौकर लाये थे। शकूर ने थोड़ी-सी सैण्डविचे और कुछ सेव मेरे भाई, बहन और मेरे लिए बाँध दिये थे। मैंने अपने हिस्से का भोजन किया और मेरी सहपाठिनियों ने साग, दाल और चपातियाँ खायी।

लड़कियाँ अमरीका की बातें सुनने को उत्सुक थीं। सब से पहला प्रश्न जो उन्होंने मुझसे किया, वह था कि क्या मैंने किसी सिने-तारिका को देखा है? (मैंने देखा था जेन रसेल को, जो न्यूयार्क से पेरिस तक हमारे ही हवाई जहाज़ में आयी थी।) इसी से मिलते-जुलते प्रश्नों की झड़ी लग गयी और मैंने यथा-शक्ति उनका उत्तर दिया; यद्यपि मुझे शीघ्र ही पता चल गया कि हालीवुड के बारे में उनकी जानकारी मुझसे ज़्यादा थी।

मुझे अपनी बात समझाने में कठिनाई होती थी। अधिकांश लड़कियाँ अंग्रेज़ी शुद्ध बोलती थीं, लेकिन मेरी अंग्रेज़ी तो शुद्ध नहीं थी। और उसमें भी समझ में न आनेवाले अमरीकी बोलचाल के शब्दों का खासा प्रयोग रहता था। ऐसा लगता था, जैसे हम दो भिन्न भाषाएँ बोल रहे हो। लगभग एक महीने में मैंने भारतीय ढंग की अंग्रेज़ी बोलना सीख लिया और मेरे मित्र मेरी अम-रीकी अंग्रज़ी से खासे परिचित हो गये।

मध्याह्न के भोजन के बाद चार घण्टे और होते थे। पहला धार्मिक शिक्षा का, जिसमें बाइबिल की व्याख्या होती थी। यह ऐच्छिक विषय था और अधिकांश विद्यार्थियों ने इस समय केमिस्ट्री (रसायन शास्त्र) या फिज़िक्स (पदार्थ विज्ञान) ले रखा था। केमिस्ट्री और फिज़िक्स विषय साथ-साथ पढ़ाये जाते थे, जो दो वर्ष के पाठ्यक्रम का अंतिम वर्ष था। चूँकि इनमें से कोई भी विषय मैंने पहले नहीं पढ़ा था, इसलिए मैंने धार्मिक शिक्षा पसन्द की।

धार्मिक शिक्षा के बाद गणित की कक्षा लगती थी। गणित भी मेरी पढ़ाई से काफ़ी आगे का था। बाद में इस घण्टे में ज्योमेट्री पर मेरे साथ ज़्यादा मेहनत की जाने लगी। गणित भी ऐच्छिक विषय था, और कुछ लड़कियों ने उसके बजाय गृहकार्य और आरोग्यशास्त्र ले रखा था। अन्तिम घण्टे से पहले वाला घण्टा कला का था और अन्तिम हिन्दी का।

इसके बाद उस दिन की पढ़ाई समाप्त हुई और लड़कियाँ मुझे स्कूल के मैदान की सैर कराने ले गयी। स्कूल के सभी काम, सिवाय छोटे से दवाखाने के, तम्बुओं में होते थे। जिन तम्बुओं में कक्षाएँ लगती थी वे काफ़ी बड़े थे, और उनमें बीस लड़के आराम से बैठ सकते थे। उनमें न तो बिजली की रोशनी थी, न पंखे, न खिड़कियाँ; लेकिन एक ओर से वे बिलकुल खुले थे।

प्रिन्सिपल और वाइस प्रिन्सिपल का तम्बू छोटा था और उसमें बिजली की रोशनी और पंखे की अच्छी व्यवस्था थी; प्रशासकीय कार्यालय में भी यही व्यवस्था थी। एक और छोटे तम्बू में दुकान थी जहाँ किताबें, काग़ज़, पेन्सिलें, कलमें आदि मिलती थी। उसके पास वाले तम्बू में खेल-कूद का सामान रखा जाता था। एक तम्बू में पुस्तकालय था और फिर एक दुकान थी–जिसमें कैण्डी, फल और आइसक्रीम तथा खाने का स्वादिष्ट तला हुआ सामान बिकता था। दवाखाने की छोटी-सी गुम्बदनुमा इमारत पत्थर की थी। यह स्थान आश्चर्यजनक रूप से ठंडा था। इसे शायद मकबरे के रूप में पन्द्रहवी सदी में मुसलमानो ने बनवाया था।

तम्बुओं में स्कूल लगने की बात शायद मुश्किल से ही कल्पना में आती है। मुझे यह स्कूल बहुत भा गया; यद्यपि हमें गर्मियों में बेहद गर्मी और सर्दियों में बेहद सर्दी लगती फिर भी हमें हमेशा ताज़ी हवा मिलती थी और मुझे प्रकृति के निकट रहना पसन्द था।

सभी किस्म के जंगली जीव तम्बुओं में आ जाते थे। छोटी-छोटी गिलहरियों को तम्बू की रस्सियों पर दौड़ लगाने और छत पर खड़बड़ाहट करने में बड़ा मज़ा आता था। तरह-तरह की चिड़ियाँ भीतर-बाहर फुदकती रहती थीं और बड़े-बड़े काले व सफ़ेद बाज़ स्कूल के ऊपर मँडराया करते थे, जिनकी लम्बी परछाईं हमारी पृथ्वी पर पड़ती थी। एक दिन हमने साँप को मार डालनेवाला नेवला देखा जो तम्बू के कोने से झाँककर तुरन्त नौ-दो ग्यारह हो गया।

स्कूल की ज़मीन के सिरे पर खेलने के दो बड़े-बड़े मैदान थे—एक फुटबाल, हाकी, और क्रिकेट के लिए; दूसरा नेटबाल के लिए जो बासकेट बाल जैसा खेल होता है। नज़दीक ही वालीबाल और बैडमिण्टन के लिए दो छोटे मैदान थे। जब हम उधर से गुज़रे तब छोटी कक्षाओं के दो दल हाकी खेल रहे थे।

हमारा स्कूल नगर के आख़िरी छोर पर था। पहले दिन जब हम दवाखाने जाने के लिए वहाँ की छोटी-सी पहाड़ी पर चढ़े, आस-पास का भूभाग लगभग निर्जन-सा लगा। वैसे वह बिलकुल समतल था; किन्तु कहीं-कहीं पथरीले टीले, कुछ छोटे-छोटे वृक्ष और बहुत-सी छोटी-छोटी हरी झाड़ियाँ दिखलाई देती थी। मेरे भारत छोड़ने से पहले स्कूल के इर्दगिर्द नये-नये घर और कई कमरोंवाली इमारतें बन चुकी थीं।

लगभग चार बजे मेरी नयी सहेलियाँ साइकिलें खड़ी करने के स्थान तक मेरे साथ आयीं (वे स्कूल की बस से आती-जाती थीं) और मैंने उनसे विदा ली; अब भी मैं कुछ लजा रही थी; लेकिन प्रसन्न बहुत थी। घर पहुँच कर सैली, सैम और मैंने यह स्वीकार किया कि कुल मिलाकर भारत में रहना वास्तव में कष्टप्रद नहीं है। यद्यपि नये वातावरण में आने का साहस करते हुए और अपने समवयस्क लोगों से मिलने-जुलने में हमें भय-सा लग रहा था; लेकिन हमने साहस करके जो पाया उससे हमें प्रसन्नता हुई। हमें विश्वास हो गया कि दिल्ली पब्लिक स्कूल की पढ़ाई हमारे लिए आनन्दप्रद सिद्ध होगी।

बाद के महीनों में मैं हमेशा दिल्ली पब्लिक स्कूल की तुलना अपने अमरीकी हाईस्कूल से किया करती थी। मैं दिल्ली स्कूल की औपचारिकता और नियम-बद्धता का ज़िक्र पहले कर चुकी हूँ। दोनों की पढ़ाई के तरीके भी बहुत भिन्न थे।

उदाहरण के लिए दिल्ली पब्लिक स्कूल में, भारतीय इतिहास की कक्षा में, हमसे आशा की जाती थी कि जिन अंशों को अध्यापिका अपनी इतिहास की पुस्तक में से पढ़े उसपर ध्यान जमाकर हम उन्हें याद कर लें और समझ लें। उन पर न बहस होती थी न प्रश्न पूछे जाते थे। जो कुछ किताब में लिखा था उससे ज्यादा अध्यापिका कुछ नही बताती थी। यह तो एक प्रकार का व्यायाम था, पाठ नहीं।

दूसरी कक्षाओं में भी हमें लगभग इसी ढंग से पढ़ाया जाता था। कला की कक्षा में, अध्यापिका ब्लैकबोर्ड पर जो कुछ बना देती थी, हमें उसकी नकल करके रंग भरना होता था।

मौलिक ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग में बाधक ऐसी शिक्षा के प्रति हमारा आकर्षण कैसे कायम रहता। यह तो अभ्यास पर बोझ ही है। अतः मुझे अपनी कक्षाएँ अरुचिपूर्ण और प्रेरणाहीन लगती। परन्तु मुझे विश्वास है कि यदि मैं वास्तव में सीखने और ऊँचे अंक पाने पर ध्यान देती तो मैं यहाँ भी उतना ही सीख सकती थी, जितना मैं अपने देश मे रह कर सीख सकती।

मेरे देश के स्कूल और दिल्ली पब्लिक स्कूल में एक और बहुत बड़ा अन्तर था और वह था परीक्षा के ढंग का। एसेक्स में पूरे वर्ष समय-समय पर परीक्षाएँ होती रहती थी और वार्षिक परीक्षा नही होती थी। उन्हीं परीक्षाओं और हमारे कक्षा के तथा घर के काम के अनुसार हमें स्थान मिलता था। दिल्ली पब्लिक स्कूल में प्रायः हर हफ़्ते परीक्षाएँ होती और फिर इंगलैंड के कम्ब्रिज विश्वविद्यालय के द्वारा निर्धारित वार्षिक परीक्षा होती थी। बहुत से विद्यार्थी असफल हो जाते और उन्हे अगले साल फिर परीक्षा देनी पड़ती।

दिल्ली पब्लिक स्कूल भारतीय हाईस्कूल के नमूने का नहीं था। चूँकि उसमें सह-शिक्षा थी इसलिए वह भारत के अधिकांश हाईस्कूलों से भिन्न था। हाईस्कूल में लड़के और लड़कियाँ साथ-साथ पढ़ें—ऐसा आम चलन नहीं है।

फिर भी सह-शिक्षा के अतिरिक्त दिल्ली पब्लिक स्कूल विशिष्ट वर्ग के भारतीय हाईस्कूलों के नमूने का कहा जा सकता था। ऐसे अधिकांश स्कूल ब्रिटिश-शासन के समय अंग्रेज़ अध्यापकों के द्वारा स्थापित किये गये थे। और वे उसी तरह के हैं जैसे तीस साल पहले ग्रेट- ब्रिटेन के हाईस्कूल होते थे।

ये स्कूल निजी रूप से लोग या कुछ लोग मिल कर चलाते हैं और तीन से दस डालर तक मासिक फीस लेते हैं। पढ़ाई अँग्रेज़ी में होती है और परीक्षाएँ सीनियर केम्ब्रिज की या और इसी तरह की होती हैं। इनका पाठ्यक्रम अमरीका के कालेज में प्रवेश करने की तैयारी के पाठ्यक्रम जैसा होता है। भारत में हाईस्कूलों की संख्या बहुत काफ़ी है और उनमें अधिकांश इसी तरह के है जिसका कि मैं अभी वर्णन कर चुकी हूँ।

भारत में, इस समय, सार्वजनिक शिक्षा किसी प्रकार से उतनी उन्नत नहीं है जितनी अमरीका में। फिर भी अमरीका मे अधिकांश राज्यों और स्थानीय प्रशासनो ने प्रारम्भिक पाठशालाओ के निर्माण में और माध्यमिक पाठशालाओं की संख्या बढ़ाने मे सहायता दी है। ये पाठशालाएं दिल्ली पब्लिक स्कूल से अलग ढंग की हैं। इनकी स्थापना स्वाधीनता मिलने के बाद हुई; इन्हे सरकारी सहायता मिलती है। इनमे या तो फीस ली ही नही जाती और ली जाती है तो बहुत कम। इनमे प्रायः अँग्रेज़ी का स्तर नीचा होता है; पढाई हिन्दी अथवा प्रादेशिक भाषा में होती हैं। इनमें विद्यार्थियों को राज्य अथवा स्थानीय परीक्षकों द्वारा निर्धारित परीक्षाओं के लिए तैयार किया जाता है। इन स्कूलों के पाठ्यक्रम में कालेज की तैयारी के लिए व्यवस्था होती है लेकिन कम। बहुधा गृहकार्य, कृषि और शिल्प की शिक्षा शामिल रहती है।

केन्द्रीय सरकार पुरानी शिक्षा पद्धति की खामियों को समझती है, यद्यपि छोटी आयु के आधे से अधिक बच्चे, गाँवों में भी इस समय स्कूल जाते हैं; फिर भी ग्यारह से सत्रह साल की आयु तक के केवल १० प्रतिशत बच्चों को ही शिक्षा की सुविधाएँ उपलब्ध हैं।

भारत के संविधान का यह आदेश है कि चौदह साल तक के सब बच्चों को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा दी जायगी। इस माँग को और बच्चों की अपनी माँगों को पूरा करने के लिए सारे भारत के गाँवों, कस्बों और नगरों में तेजी से स्कूल बनवाये जा रहे हैं। भारत की अधिकांश जनता गाँवों में रहती है और उसमें शिक्षा का प्रसार तेज़ी से हो रहा है। वैसे तो, मैं आशा करती हूँ कि भारत में गाँव सदैव बने रहेंगे, किन्तु नया देश अपने महान प्रयोग द्वारा यह साबित कर रहा है कि गाँवों में हमेशा ही निरक्षरता नहीं रह सकती और निरक्षरता तथा ग्रामीणजन हमेशा पर्यायवाची शब्द नहीं बने रह सकते।

चार

नयी मैत्री

दिल्ली पब्लिक स्कूल के बारे में सैम, सैली और मेरी धारणा अलग-अलग थी। किन्तु; हम इस बात पर एकमत हैं कि हमने जो मित्रता वहाँ पैदा की वह स्कूल में हमारे अनुभव का सबसे सुखद और अमूल्य भाग है।

यद्यपि सुमन मुझसे हर प्रकार से भिन्न थी फिर भी परिचय होने के बाद यह सुन्दर और बाहर घूमने-फिरने वाली लड़की मुझे सबसे ज्यादा भायी। मुझे याद है कि जिस दिन मैं पहली बार स्कूल गयी थी, वह मुझे अपनी सब सहपाठिनियों से ज़्यादा स्पष्टवादी और जिज्ञासु लगी थी।

जिस प्रकार मैंने भारत आने से पहले भारतीय लड़कियों के बारे में एक राय बना ली थी; उसी तरह सुमन के मन में भी अमरीकी लड़कियों की एक काल्पनिक मूर्ति थी, जो मुख्यत: हालीवुड के अनेक चित्रों पर आधारित थी, जो उसने देखे थे। इसलिए उसे इस बात पर बड़ी निराशा हुई कि उसकी उम्र की सबसे पहली अमरीकी लड़की जो उससे मिली उसकी यानी मेरी बात-चीत का ढंग, रूप, रंग, हाव-भाव आदि बिलकुल वैसे नहीं थे जिनकी कि उसने अमरीकी लडकियों के बारे में कल्पना की थी। लेकिन वह मित्र बनने के लिए उत्सुक थी और अक्सर, स्कूल के शुरू के कुछ सप्ताहों में, वह कुछ असुविधा उठाकर भी मेरा साथ देती थी।

स्कूल जाना शुरू करने के लगभग एक महीने बाद सुमन ने मुझे नयी दिल्ली में फिल्मों से परिचित कराया। रिवोली थिएटर कनाट सर्किल के बहुत नजदीक है। कनाट सर्किल धनीमानी वर्ग की दुकानदारी का केन्द्र है। स्कूल से हम वहाँ बस से गये। थिएटर में पहले से ही काफ़ी भीड़ थी। सुमन ने बताया कि अधिकांश लोग कालेज के विद्यार्थी थे या युवक-ग्रेजुएट जिनकी अभी नौकरी-चाकरी नहीं लगी थी। लड़कियाँ कम थी और मैं अपने अमरीकी कपड़ों में अलग दीख रही थी, इसका मुझे खुद एहसास हो रहा था। उस समय मेरी इच्छा हुई कि काश मैं भी सुमन की तरह ढीली-ढाली सलवार पहने होती।

सलवार टखनों तक लम्बी पतलून जैसी होती है। उसकी कमर लगभग दो गज़ की होती है और नाड़े से बाँधी जाती है। सलवार प्रायः सफ़ेद सूती कपड़े की बनाई जाती है। कभी-कभी उसी रंग और नमूने के कपड़े की भी होती है जिसकी कि क़मीज़। क़मीज़ बहुत कुछ पुरुषों की क़मीज़ जैसी होती है। कमर पर न बहुत ढीली होती है न बहुत चुस्त। यह बहुत कुछ फ्राक के नमूने की होती है और सलवार पर पहनी जाती है। अमरीकी लड़कियों के पहनावे की तरह उसकी लम्बाई, रंग, कपड़े और नमूनों में पहननेवालियों की अपनी-अपनी पसन्द के अनुसार भेद रहता है।

सुमन ज्यादातर चटकीले रंग की, बड़ी छपाईवाली, घुटनों तक की सूती कमीज़ पहनती थी। लम्बी क़मीज़ का उस वक्त फैशन था और स्कूल तथा कालेज की अधिकांश लड़कियाँ घुटनों तक की या उससे भी जरा नीची कमीज़ पहिनती थीं।

सलवार और कमीज के अलावा, दिल्ली की लड़कियां एक ओढ़ने को भी काम में लाती हैं, जिसे चुन्नी या दुपट्टा कहते हैं। दुपट्टा महीन कपड़े का और छः फुट लम्बा तथा दो फुट चौड़ा होता है। यह दुपट्टा लडकियाँ कंधों पर से पीठ पर डाल लेती हैं। कुछ लड़कियाँ अपनी रुचि के अनुसार उससे सर भी ढँके रहती है।

सलवार और क़मीज खास तौर से पंजाब का पहनावा है। पंजाब प्रान्त दिल्ली के उत्तर में है। हाल ही में समूचे भारत की बहुत-सी लड़कियों ने, खेल-कूद और काम के समय के लिए असुविधाजनक साड़ी के बजाय इस पहनावे को अपना लिया है।

सुमन मेरे खयाल से, जो भी पहन लेती उसी में सुन्दर दिखती थी; किन्तु उस दिन सिनेमा में वह हल्के और गहरे हरे रंग की छपी हुई सूती क़मीज़ के साथ सफ़ेद सूती सलवार और चुन्नी में ख़ास तौर से मोहक लग रही थी। उसने लिपस्टिक भी लगा रखी थी। कुछ पश्चिमी फैशन की बड़ी उम्र की लड़कियाँ ही लिपस्टिक लगाने लगी हैं। सुमन ने अपने घने काले बालों की दो चोटियाँ गूँथ रखी थीं। उसकी कलाइयों में शीशे की बहुत-सी चूड़ियाँ पड़ी थीं, जो रह-रह कर झनक रही थीं। जब हम थिएटर में टिकट

की खिड़की पर गये उस समय मैं सुमन की तुलना में अपने को बहुत मामूली महसूस कर रही थी।

थिएटर बहुत-कुछ वैसा ही था जैसा अमरीका का कोई भी थिएटर हो सकता है; यद्यपि, यह मैं अवश्य कहूँगी, कि वह कनेक्टीकट में, मेरे घर के निकट के किसी थिएटर से ज्यादा शानदार था। उस में तीन श्रेणियों की सीटें थीं और हर एक के लिए टिकट जुदा-जुदा क़ीमत के थे। एक रुपये चार आने का सस्ता टिकट ख़रीदने वालों को पर्दे के सामने आगे बैठना पड़ता है। यह सस्ते-से-सस्ता टिकट भी बहुत-से भारतीयों के वश से बाहर की बात है। महँगे-से-महँगा टिकट तीन रुपये बारह आने का था। हमने जो टिकट ख़रीदा उसके ढाई रुपये लगे। अधिकाँश लोग यही टिकट ख़रीदते हैं। हमने कुछ केक, पोटैटो चिप्स खरीदे और थिएटर में पहुँचकर भारतीय और लोकप्रिय अमरीकी संगीत सुनते हुए खेल शुरू होने की प्रतीक्षा करने लगे।

तीन छोटी न्यूज रीलें दिखाई गयी। एक भारतीय समाचारों की थी, दूसरी विश्व के समाचारों की और तीसरी अमरीकी समाचारों की। इसके बाद बहुत-से विज्ञापनों और एक कार्टून का प्रदर्शन किया गया। फिर हालीवुड की फिल्म 'फ्रैंसिस गोज टू द रेसेज़' दिखाई गयी।

नयी दिल्ली और दूसरे बड़े शहरों में हालीवुड के बहुत-से चित्र दिखाए जाते हैं। मैं कभी-कभी ही सिनेमा जाती थी और जब कभी जाती तो प्रायः सुमन के साथ। वह ऊँची आय वाले बहुत से भारतीय परिवार की लड़कियों की तरह लगभग प्रति सप्ताह जाती थी। समय-समय पर मैंने "कम बैक लिटिल शीबा", इंग्रिड बर्ग मैन की "गैस लाइट", "स्केरामूशे" और एक बाब होप की फिलम देखी। फिल्म देखनेवाले अधिकांश भारतीय अमरीका के बारे में अपने विचार और धारणाएं मुख्यतया ऐसे ही चित्रों के आधार पर निर्धारित करते हैं। मुझे याद है कि "कम बैक लिटिल शीबा" के उन दृश्यों को देख कर मैं बेहद सकुचायी थी जिनमें हाईस्कूल का एक लड़का अपनी एक मित्र लड़की के प्रति अनुचित व्यवहार करता है; परन्तु वह लड़की उसे कड़ाई के साथ नहीं रोकती।

अमरीका में इस फ़िल्म में मुझे आनन्द आता और उन दृश्यों की ओर मेरा ध्यान भी न जाता; किन्तु नयी दिल्ली के थिएटर में मैंने अनुभव किया

कि जो कुछ भी चित्रित किया गया था उस का भाव मैं तो समझती थी, दूसरे दर्शक नहीं समझते थे। इस समझ के बिना भारतीय फिल्म-दर्शक यही समझ सकते हैं कि अमरीकियों में शील और नैतिकता की बहुत कमी होती है।

फिर भी 'कम बैक लिटिल शीबा' वैसी रद्दी फिल्म नहीं थी जैसी कि हालीवुड बराबर दिल्ली और अन्य भारतीय तथा एशियाई शहरों को भेजा करता है। उदाहरण के लिए हमारे कुछ 'वेस्टर्न' चित्र लीजिये जिनमें अमरीकी इण्डियनों के प्रति ज्यादातर बहुत ही बेढंगा और उद्दण्डतापूर्ण रुख दिखाया जाता है। अमरीका में ही ये फ़िल्में बुरी लगती हैं; और नयी दिल्ली में तो और भी ज़्यादा बुरी लगती हैं। ये फ़िल्में न केवल अमरीकी जीवन के बारे में भारतीयों में गलत धारणाएँ पैदा करती हैं; बल्कि उनमें से बहुत-सी वैभव और विलास का ऐसा बढ़ा-चढा चित्र प्रस्तुत करती हैं, जो औसत भारतीय फ़िल्म देखनेवाले के अनुभव से बहुत परे होता है, और इसलिए वह मेरे एक लेखनी-मित्र के समान इस निर्णय पर पहुँचता है, कि अमरीका तो "पृथ्वी का स्वर्ग" है। हालीवुड की फ़िल्में ऐसों के लिए अपने वातावरण से वास्तविकताओं को भुला देने का काम करती हैं।

इन फ़िल्मों की एक और भी प्रतिक्रिया होती है। यह शायद ज़्यादा रचनात्मक होती हैं। भारतीय युवक-युवतियाँ और कालेज के लड़के-लड़कियाँ अमरीकी युवक-युवतियों को स्वाभाविक और निकट के साहचर्य का आनन्द प्राप्त करते देखते हैं; उन्हें साथ-साथ स्कूल, चर्च और पार्टियों में जाते तथा साथ-साथ नृत्य करते देखते हैं। यह चीज़ उन्हे अपने यहाँ के उन बन्धनों के बारे में विचार करने को मजबूर करती है—जो जातिभेद, संयुक्त परिवार की प्रथा, और समाज के सामान्य उच्च नैतिक स्तर ने उन पर लाद रखे हैं। और तब इन बन्धनों के प्रति उनमें असंतोष पैदा होता है।

इटली की फ़िल्में भी भारत में लोकप्रिय हैं और वैसी ही भ्रममूलक। मुमन और मैंने "बिटर राइस" और 'बाइसिकल थीफ" चित्र देखे। फरवरी १९५२ में नयी दिल्ली में अन्तर्राष्ट्रीय फ़िल्म समारोह हुआ। तब हमने जापानी और रूसी फ़िल्में भी देखीं।

संयुक्त राज्य अमरीका के बाद भारतीय फ़िल्म उद्योग सब से बड़ा है।

सुमन तथा अपने दूसरे मित्रों के साथ हमने काफ़ी भारतीय फिल्में देखीं। उनमें से अधिकांश फिल्मे अपनी लम्बाई और एक के बाद एक जन्म, मृत्यु, विवाह, बीमारी तथा दुर्घटनाओं जैसी तरह-तरह की और बहुत-सी मुसीबतों के चित्रण के कारण हालीवुड की "गान विद द विन्ड" जैसी लगती हैं। बहुत-से चित्रों में हँसी-खुशी और दुःख का असफल मिश्रण किया गया था। उनमें भारतीय जीवन का वैसा ही अतिशयोक्तिपूर्ण चित्रण किया गया था जैसा हालीवुड की फ़िल्मों मे अमरीकी जीवन का किया जाता है। अक्सर वे भारत के गौरवशाली अतीत से सबधित होती हैं।

मेरी बहुत दिनो से इच्छा थी कि कही भारतीय विवाह देखने को मिले। इसलिए जब जनवरी के अन्त मे सुमन ने मुझसे अपनी एक सहेली की शादी मे चलने के लिए पूछा तो मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। शादी उसी रात को होनेवाली थी और सुमन ने तय किया कि वह शाम को ही मुझे ले जायगी। ५ बजे जब वह मोटर से आयी, मै तैयार थी। सुमन साड़ी पहने हुए थी और आश्चर्यजनक रूप से बड़ी दिख रही थी। साड़ी हल्के गुलाबी रंग के रेशम की थी, जिस मे कंधे से लटकनेवाले पल्लू पर सैकड़ों छोटे-छोटे रुपहरी सितारे टंके हुए थे। वह लम्बे चमकदार इयररिंग और सोने के बहुत ही सुन्दर और सादे कगन पहने हुए थी।

अमरीका के लिए इस प्रकार का बढ़िया ज़ेवर बहुत अमीरी का सूचक होता; किन्तु सुमन का परिवार कोई ख़ास अमीर नही था। सोने ओर चाँदी के ज़ेवर भी दिल्ली मे अपेक्षाकृत सस्ते थे और साधारण आमदनी वाले परिवारों की लड़कियों के लिए भी महँगे दीखने वाले आभूषण पहनने का रिवाज़ है।

हम दिल्ली की भीड़-भाड़ वाली सड़कों से होकर गुज़रे। पार्कों में पूरे-के-पूरे परिवार और युवक-विद्यार्थी कामकाज और पढ़ाई-लिखाई के बाद वैसे ही आराम कर रहे थे जैसे दुनिया में सभी जगह करते हैं। शहर पार करके हम वधू के घर पहुँचे। चूँकि वह घर 'पुरानी दिल्ली के बीचो-बीच एक बहुत ही गन्दी, सँकड़ी और भीड़ भरी गली में था; इसलिए यह देखकर मुझे आश्चर्य हुआ कि घर बड़ा और आरामदेह था और उसमें रहनेवाले लोग अंग्रेज़ी

बोलते थे। जब हम पहुँचे तब घर वधू के मित्रों और रिश्तेदारों से भरा हुआ था। हमें एक कमरे में ले जाया गया, जहाँ कुछ महिलाएँ और लड़कियाँ बैठी हुई बातें कर रही थीं।

भावी वधू भी उनके बीच बैठी थी। उसने शादी की लाल रंग की सुन्दर साड़ी पहन रखी थी और उस समय तक लजा नहीं रही थी। वर और उसके मित्रों के आते ही उसे लज्जा और संकोच का भाव अपनाना पड़ेगा। उसकी निकट की रिश्तेवालियाँ उसके पास बैठी उसकी सम्हाल-सुधार के लिए कुछ-न-कुछ किये ही जा रही थीं; कभी वे उसकी साड़ी को, तो कभी उसके बालों में लगे फूलों को ठीक करतीं।

मुझे उस नव-विवाहिता वधू का खयाल आया, जिसे मैंने कुछ सप्ताह पूर्व शादी के स्वागत-समारोह में देखा था। सुमन और मैं दोनों गयी थीं। वह वधू अपना सर झुकाये हुए और अपनी आँखें नीची किये हुए बहुत ज्यादा शर्मा रही थी। मुझे बाद को ज्ञात हुआ कि शायद उसकी लज्जा वास्तविक रही हो या न रही हो, उससे आशा तो इसी की की जाती थी। नयी-नयी शादी करके वह नये घर में गयी थी। अब वह अल्हड़ लड़कियों जैसा व्यवहार नहीं कर सकती थी। एक नयी लजीली, कर्तव्यपरायण पत्नी जैसा व्यवहार करना ही उसके लिए उचित था।

महिलाएँ एक-एक करके उसके पास आकर उसे कोई उपहार या आशीर्वाद देतीं। वह अपनी दृष्टि को ज़रा-सा ऊपर उठाती और मुस्करा कर अभिवादन करती और शुभकामनाएँ स्वीकार करती, और फिर से अपनी आँखें नीची कर लेती।

आज की भावी दुल्हन भी जल्दी ही ऐसी ही लज्जा धारण करने वाली थी; क्योंकि बाहर गली में बाजे-गाजे और चहल-पहल से हमें सूचना मिल गयी थी कि अब बारात सजाकर दूल्हा अपने मित्रों और सगे-सम्बंधियों के साथ आ रहा है। छज्जे से बारात देखने के लिए सुमन और मैं भाग कर दूसरी मंज़िल पर जा पहुँची।

हिन्दुओं में यह प्रथा है कि शादी करने के लिए दूल्हा चलकर या घोड़े पर चढ़कर अपने घर से दुल्हन के घर जाता है; किन्तु आधुनिक विचारवाला यह दूल्हा चटकीली पीले रंग की, फूलों से लदी हुई मोटर में बैठकर आया।

मोटर और बारात का छोटा-सा जुलूस सड़क पर झाँकने से दिखाई देता था।

आगे-आगे शादी के बाजे थे; दो नगाड़ेवाले और दो शहनाईवाले। वे संगीत तो कम निकाल रहे थे, शोर ज्यादा मचा रहे थे। उन्हें आनन्द खूब आ रहा था। उनके पीछे नयी मोटर थी जिसमें दूल्हा और उसके निकट के सम्बन्धी बैठे थे। हमने देखा कि दूल्हा पश्चिमी ढंग का सूट पहने हुए था। अद्‌भुत चमचमाता हुआ सेहरा उसने सर पर डाल रखा था। आँखों के सिवाय सारा चेहरा उससे ढँक गया था। वह उसके कंधों तक लटक रहा था। मोटर के पीछे लोगों की भीड थी जिसमें दूल्हे के मित्रों और सम्बन्धियों के अलावा और बहुत से कौतुक-प्रिय दर्शक भी शामिल थे।

जब दूल्हा द्वार पर पहुँचा, तब दुल्हन के कुछ सम्बन्धियों ने उसका स्वागत किया। मोटर से नीचे उतरकर उसने अपने चेहरे पर से उस चमकते हुए सेहरे को ऊपर उठाया और दोनों परिवारों के प्रतिनिधियों ने शुभेच्छा के प्रतीक स्वरूप एक दूसरे पर गुलाबजल छिड़का। इस बीच हमने तथा औरों ने छज्जे पर से बारात पर फूल बरसाये।

दूल्हा और उसके साथ के लोग रात्रि के भोज तथा विवाह-संस्कार शुरू होने तक ठहरने के लिए भीतर आये। साढ़े दस बजे तक शादी शुरू नहीं हुई थी, इसलिए सुमन को तथा मुझे शादी देखे बिना ही लौटना पड़ा। बाद में हमें मालूम हुआ कि आधी रात बीतने पर शादी शुरू हुई और कई घंटों में जाकर पूरी हुई। भारत के अपने प्रवास-काल में मैं कई हिन्दुओं और सिखों की शादियों में सम्मिलित हुई। सभी में वधू के घर व बाहर बड़ी देर तक धार्मिक विधियाँ सम्पन्न होती हैं। गठबन्धन करके वर-वधू जब हवन-अग्नि के सात फेरे पूरे कर लेते हैं तब उनकी शादी हो जाती है।

मेरी एक घनिष्ठ सहेली की शादी दिल्ली में हुई थी। वह शादी के समय की अपनी चमकीली लाल और सुनहरी साड़ी में बहुत ही सुन्दर दिख रही थी। उसने सोने के अनेक कंगन पहन रखे थे और एक सोने की लड़ी उसके बालों में गुंथी हुई थी, जिसके सिरे पर एक ज़ेवर लगा हुआ था जो उसके माथे पर लटक रहा था। उसकी आँखों में काजल लगाया गया था और उसके माथे को छोटी-छोटी सफ़ेद बिन्दियों से सजाया गया था।

शादी के संस्कार के बाद–जो शाम को जल्दी ही हो गये थे—वधू के घर पर शादी की दावत हुई।

मेरा और सुमन का कई बार मजे का साथ रहा था। फिर भी शुरू में वह मेरी इतनी ही मित्र थी, जो मेरे साथ अच्छा व्यवहार करती थी, जिसके साथ मेरा वक्त अच्छा गुजरता था, जिसकी कि मुझे उस वक्त जरूरत थी। मुझे शीघ्र ही पता लग गया था कि यह देश संकोचशील है। उसमें सुमन का साहस किसी कदर मुझ पर हावी हो जाता था। लेकिन दो महीने में ही उसकी और मेरी घनिष्ठता हो गयी। वह सच्ची मित्र थी और मैं उसके साथ वैसे ही बात कर सकती थी जैसे मैं अपने देश में अपने मित्रों से करती थी।

मुझे जनवरी के सुहावने दिनों में से एक दिन खूब याद है। आसमान का रंग गहरा नीला था और सूरज चमक रहा था। सूरज गर्म इतना ही था कि उसकी तरफ़ पीठ करना अच्छा लगता था और भारी स्वेटर न पहन रखा हो तो धूप सुहावनी लगती थी। सुमन और मैं तथा कुछ लड़कियाँ और लड़के स्कूल के बाद हॉकी खेलने के लिए ठहर गये थे।

खेल खत्म हो चुका था। मैं और सुमन धूप में बैठे आराम कर रहे थे। तभी एक बड़ी-सी लारी उधर से गुज़री, जो खूब सजी हुई थी और उसके दोनों तरफ बड़े-बड़े पोस्टर लगे हुए थे। प्रत्येक पोस्टर पर बैल का चिह्न था—साथ ही अँग्रेज़ी, हिन्दी और उर्दू में लिखा था "पटेल को वोट दो', "कांग्रेस को वोट दो।" लारी लोगों से भरी हुई थी। वे गा रहे थे और चिल्ला रहे थे—"कांग्रेस को वोट दो।" दिल्ली राज्य के पहले चुनाव में बस एक सप्ताह रह गया था और दिल्ली की सभी बड़ी पार्टियों—कांग्रेस, सोशलिस्ट, जनसंघ और कम्यूनिस्ट पार्टी का प्रचार-कार्य पूरे जोर पर था।

मैंने सुमन से पूछा कि पोस्टर के बैल का क्या तात्पर्य है? उसने बताया कि बैल कांग्रेस दल का चिह्न है। अपढ़ लोग इस चिह्न से कांग्रेस दल का सम्बन्ध जोड़ सकते हैं, और वैसे ही बरगद के पेड़ से सोशलिस्टों का, दीपक से जनसंघ का, गेहूँ की बाली तथा हँसिये से कम्यूनिस्टों का सम्बन्ध जोड़ सकते हैं और वे जिस पार्टी को वोट देना चाहें उसकी मतदान पेटी को उस पर बने हुए चिह्न से पहचान सकते हैं।

सुमन ने मुझसे पूछा कि क्या अमरीका में भी राजनीतिक दलों को व्यक्त

करने वाले चिह्न होते हैं ? मैंने उसे अपने यहाँ के रिपब्लिकन दल के हाथी और डेमोक्रेट दल के गधे और दो-दलीय व्यवस्था के बारे में तथा चुनावों और राजनीतिक प्रचार-कार्य के बारे में बातें बतायीं। हम इस बात पर सहमत हुए कि जहाँ तक प्रचार और चुनावों का सम्बन्ध है दोनों देशों में विशेष अन्तर नहीं है।

"किन्तु" सुमन ने कहा—"भारत में तुम्हारे यहाँ की दो-दलीय व्यवस्था से मिलती-जुलती कोई चीज़ नहीं है।" उसने बताया कि भारत में कांग्रेस पार्टी मुख्य है और कोई दूसरी पार्टी शक्ति में उसके बराबर या लगभग बराबर नहीं है। सोशलिस्ट और कम्यूनिस्ट पार्टी में थोड़ी-सी शक्ति है, और जनसंघ में बहुत ही कम।

इस अन्तिम दल के भावुक समर्थक विश्वास करते हैं कि भारत विशुद्ध हिन्दू देश होना चाहिए और मुसलमानों को भारत छोड़ने के लिए बाध्य किया जाय; वे पाकिस्तान अथवा अन्य किसी मुस्लिम देश में जाकर बसें। सुमन ने बताया कि इन चार दलों के अतिरिक्त, कुछ और छोटे-छोटे दल हैं और बहुत-से स्वतंत्र उम्मीदवार भी हैं।

सुमन राजनीति का अध्ययन कर रही थी; जिस प्रकार मैंने अमरीका में किया था। भारत के प्रथम राष्ट्रीय चुनाव में सुमन के पिता दिल्ली राज्य की विधान सभा के लिए उसी चुनाव क्षेत्र में स्वतन्त्र उम्मीदवार के रूप में खड़े हुए थे जिसमें वे रहते थे। सुमन ने बताया कि "उनका चिह्न सीढ़ी है और उनके प्रचार का नारा है 'हमें चाहिए उन्नति, कांग्रेस की हो अवनति !' मुझे इस नारे से कुछ आश्चर्य हुआ और मैंने सुमन से कहा कि मैं तो यही सोचती थी कि कांग्रेस पार्टी भारत की सबसे प्रगतिशील पार्टियों में से है।

"स्वतन्त्रता के बाद हम सबका यही खयाल था कि वह बनेगी" सुमन बोली—"और वास्तव में उसने हमारे देश के लिए बहुत कुछ किया है। किन्तु कांग्रेस ने बहुत धीमी गति से काम किया।" बाद को कांग्रेस की इस प्रकार की आलोचना मेरे सामने अक्सर दुहराई गयी। अधिकांश लोग जिनसे मेरी बात-चीत हुई उन्नति के लिए अधीर थे। भारत को आगे बढ़ने की व्यग्रता है।

यह दोपहर का पिछला पहर था जब हमारी बात खत्म हुई। मैंने अनुभव किया कि मैं सुमन को और भी ज्यादा समझने और चाहने लगी हूँ। उसके बारे

में मेरा यह ख़याल कि वह सिर्फ़ सिनेमा की शौकीन और पश्चिमी सभ्यता को पसन्द करने वाली लड़की है, सही नहीं था।

पहली फरवरी के लगभग, एक दिन जब मुझे भारत आये हुए तीन महीने बीत चुके थे, स्कूल की लड़कियों ने निर्णय किया कि अब वह समय आ गया है जब कि मेरे पास भी कुछ भारतीय ढंग के कपड़े हों। भारत में कपड़े पुरुष सीते हैं, जिन्हें दर्ज़ी कहते हैं। सुमन ने सलाह दी कि हम कपड़ा-बाज़ार जायें। और फिर वह उस दर्ज़ी की दुकान पर चलकर, जिससे वह प्राय: अपने कपड़े सिलवाया करती थी, मेरे लिए सलवार और क़मीज़ बनवाना चाहती थी। वस्तुत: मैं अपने अमरीकी कपड़ों में सबसे अलग दीखती थी और मेरा पहनावा साइकिल की सवारी के लिए उपयुक्त नहीं था। सुमन और मैंने तीसरे पहर ४ बजे उसके घर के सामने मिलने की योजना बनायी।

सुमन बाबर रोड पर एक छोटी-सी इक-मंज़िली बनी इमारत में रहती थी। जिस समय मैं साइकिल पर वहाँ पहुँची, वह बाहर खड़ी मेरा इन्तज़ार कर रही थी। चूंकि बाज़ार निकट ही था इसलिए हमने दुकान तक पैदल जाना तय किया। हम बाबर रोड होकर चौड़ी-चौड़ी वृक्षों से छाई हुई बाराखम्बा रोड से कनाट सर्किल, और सर्किल का चक्कर काटकर क्वीन्स वे पहुँचीं, जो नयी दिल्ली की एक प्रमुख सड़क है। क्वीन्स वे के किनारे-किनारे पश्चिम पाकिस्तान से आये हुए हिन्दू शरणार्थियों की अनेक छोटी-छोटी दुकानें हैं। उनमें कई दुकानें कपड़े की हैं। हमें पता था कि यहाँ हमें अपनी पसन्द की चीज़ मिल जायेगी। हमने झटपट सलवार के लिए तीन गज़ सफ़ेद कपड़ा, क़मीज़ के लिए नीले रंग की ढाई गज़ छींट और हल्के नीले रंग का जाली जैसा पौने दो गज़ कपड़ा चुन्नी के लिए ख़रीद लिया। दर्ज़ी की दुकान पास की ही सड़क पर थी। हमने उसके पास जाकर कपड़ा दे दिया और मुझे जैसा नमूना चाहिए था वह उसे बता दिया। उसने मेरी नाप ली और मुझसे एक हफ़्ते बाद आने को कहा; तब तक कपड़े तैयार हो जाने वाले थे। तब से मैंने नियमित रूप से भारतीय कपड़े ही पहने।

दर्ज़ी की दुकान से मैं और सुमन बाज़ार की एक छोटी-सी दुकान पर गये जो सुमन के घर के नज़दीक ही थी। उसमें खाने की चीज़ें बिकती थीं जो दिखने में जितनी लुभावनी थीं, खाने में उतनी ही स्वादिष्ट भी। हमने कुछ

चटपटी चीज़ें खरीदीं, जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता। कुछ मिठाइयाँ भी लीं। फिर तो इन चीज़ों की ऐसी चाट पड़ी कि हमसे कभी छूटी नहीं। जब भी मैं सुमन के घर जाती तब हम हमेशा उसी छोटी-सी दुकान पर जाकर उन स्वादिष्ट चीज़ों को खूब पेट भर के खाते।

लगभग पहली मार्च तक मुझे सुमन के घर जाने और उसके परिवार से मिलने का कोई अवसर नहीं मिला। जब उस दोपहरी को मैंने उसके घर में प्रवेश किया, मुझे एक मिनट के लिए लगा जैसे मैं अपने एसेक्स के हर समय व्यस्त रहने वाले घर पहुँच गयी हूँ। शिशुओं का रुदन, बच्चों की किलकारियाँ, बड़ों की बातें और कई छोटे-छोटे नंगे पैरों की चाप मुझे सुनाई पड़ रही थी।

परिवार में एक चचेरे भाई का जन्मदिन मनाया जा रहा था और घर दादा-दादियों, पिता-माताओं, चाचा-चाचियों तथा शोर मचाते और दूध-पीते शिशुओं से भरा पड़ा था। एक प्रकार की आश्चर्यपूर्ण अस्तव्यस्तता छाई हुई थी। सभी खुशी मना रहे थे, हँस रहे थे, बातें कर रहे थे और खूब आनन्द ले रहे थे। सुमन ने मेरा परिचय अपनी माँ और अपनी चाचियों से कराया। मैं भी उस अस्तव्यस्तता में शामिल हो गयी और सब ने मेरे साथ ऐसा व्यवहार किया जैसे मैं उस घर की ही सदस्या हूँ।

जब मैं रवाना हुई, सुमन ने मुझे दूसरे दिन दोपहर के भोजन के लिए आमंत्रित किया। वैसे मैं भारतीय भोजन की कुछ चीज़ों का स्वाद चख चुकी थी और स्कूल में, मैं अक्सर सुमन और अपनी अन्य सहपाठिनियों के भोजन को समाप्त कराने में हाथ बँटाती रहती थी; किन्तु अब तक मैंने वास्तव में पूरा भारतीय भोजन कभी नहीं किया था।

जब मैंने दूसरे दिन सुमन के घर का दरवाज़ा खटखटाया, उसके छोटे भाई ने मेरा स्वागत किया और उसने सुमन को आवाज़ दी। वह भागती हुई आयी और मुस्करा कर उसने शान से "ही-या" कह कर मेरा अभिवादन किया। यह शब्द उसने उन्हीं दिनों किसी अमरीकी चित्र से सीखा था। "ही-या" कहकर ही मैंने भी उत्तर दिया और भोजन तैयार होने तक हम बैठ कर बातें करने लगीं।

मैंने उससे पूछा कि उसके परिवार के कौन-कौन सदस्य उस घर में रहते हैं और उसने मुझे संयुक्त परिवार-पद्धति समझायी। सुमन के दादा-दादी संयुक्त परिवार के और सुमन के परिवार के मुखिया थे। सभी विवाहित और अविवाहित लड़के, अविवाहित लड़कियाँ और विवाहित पुत्रों की पत्नियाँ व बच्चे सब उनके साथ रहते थे।

"भारत का पारिवारिक जीवन यही है।" सुमन ने मुझे बताया—'किन्तु, बहुत-से शिक्षित युवक अपने माता-पिता के बन्धन से मुक्ति अनुभव करने की इच्छा से अपना घर अलग बसाने लगे हैं।" सुमन का खयाल था कि बच्चे अपने माता-पिता के बहुत ऋणी होते हैं और उनका कर्तव्य है कि वे उनकी वृद्धावस्था में उनकी सेवा करें; जब तक वे जीवित रहें तब तक उनका आदर करें और उनकी आज्ञाओं का पालन करें।

सुमन के दादा-दादी, माता-पिता, चाचा-चाची और उनके बच्चे, एक अविवाहित चाचा, उसकी अविवाहित बुआ और उसके खुद के दो भाई और बहनें सब उस घर में रहते हैं।

जब हम खाने की बडी-सी मेज़ पर खाना खाने बैठे तब मेरा लगभग उन सब से मिलना हुआ। उन्होंने ज़रा सकुचाते हुए अंग्रेज़ी में मेरा अभिवादन किया। अंग्रेज़ी थोड़ी-थोड़ी सभी को आती थी। बाद में वे आपस में हिन्दुस्तानी में बातें करते रहे।

यद्यपि सुमन के परिवार के सदस्य हिन्दू हैं—फिर भी और बहुत-से हिन्दुओं की तरह ही वे भी शाकाहारी नहीं हैं। हाँ, लगभग सभी हिन्दुओं के समान, वे गोमांस से सख्त परहेज़ करते हैं। भोजन, जैसी मैंने आशा की थी, वैसा ही बढ़िया था। खूब मसाला पड़ा हुआ मेमने का गोश्त, आलू-मटर का साग और मसूर की दाल, सभी चीज़ें बडी स्वादिष्ट थीं। दाल बहुत सस्ती और पोषक तत्वों से परिपूर्ण होती है। भारत के अधिकांश भागों के लोग इसे लगभग दोनों वक्त खाते हैं।

दाल-साग के साथ चावल और चपातियाँ परोसी गयीं। लगभग प्रत्येक उत्तर भारतीय घर में चपाती मुख्य भोजन है। बाद को मैंने उसका बनाना भी सीख लिया। गेहूँ के आटे में काफ़ी पानी मिला कर उसे कड़ा-कड़ा सान लिया जाता है और उसकी छोटी-छोटी लोइयाँ बना ली जाती हैं, जिन्हें

बेल कर आग पर रखे लोहे के तवे पर मिनट भर में सेंक लेते हैं। आटे में तेल मिला कर बेली हुई लोइयों को सेकने के बजाय तलने से दूसरी तरह की चीज़ बन जाती है। उत्तर भारत में चावल उतना नही खाया जाता है जितना गेहूँ। सुमन के परिवार में भी चावल रोज़ नही खाया जाता।

बर्फ़ जैसा सफ़ेद दही और कई प्रकार की चटनियाँ भी खाने के साथ थीं; और भोजन के अन्त में केले, सेब और खूब रस से भरे हुए आम दिये गये।

सुमन और मैने अधिकांश तीसरा पहर बातों मे बिताया। फिर हम बाज़ार गये; खाने की वही चटपटी चीजें लेने, जो हमें बहुत भा गयी थीं। हमने दो आने की दो मुट्ठीभर खूब मीठी और रसवाली गंडेरियाँ भी खरीदीं।

फिर तो मैं कई बार भोजन करने सुमन के घर जाने लगी। भोजन के बाद बातचीत मे मैंने उस अद्भुत लड़की और उसके सुन्दर देश के बारे में बहुत-सी वातें सीखीं।

सुमन भावुक, स्नेहमयी, दयालु और जिज्ञासु लड़की थी। वह अमरीका से आकर्षित थी; उस अमरीका से जिसे उसने फ़िल्मों, फ़िल्मी पत्रिकाओं और क़ार्टूनों की पुस्तकों में देखा था। वह उन्हीं अमरीकी लड़कियों जैसी बनने की कोशिश करती थी लेकिन उसी हद तक, जहाँ तक की ऊँचे नैतिक स्तर वाले देश-भारत में उसे "अश्लील" न समझा जा सके।

वह लिपस्टिक और लाली लगाती थी। पलकों को काली करने वाली पेन्सिल का उपयोग करती थी, कभी-कभी नाखून भी रंगती थी और अमरीकी ज़ेवर पहनती थी। जैसे सैन्डल मैं या और बहुत-सी औरते पहनती थीं, उनकी अपेक्षा ऊँची एड़ी वाले जूते उसे ज्यादा पसन्द थे। घर मे वह डंगारी पहनती थी (जो मैंने दी थी) और बब्रिल गम (गोंद से तैयार किया गया एक पदार्थ) चूसती रहती थी। वह अमरीका के बहुत-से फ़िल्मी सितारों के नाम जानती थी; वाल्ज नृत्य, फाक्स ट्राट और रम्बा नृत्य करती थी; 'ही-या" और बोलचाल के ऐसे ही अन्य दर्जनों अमरीकी शब्दों का प्रयोग करती थी।

इसलिए सुमन कभी-कभी बहुत साहसी, लगभग निर्लज्ज, खर्चीली लड़की समझी जाती थी। जो कुछ वह करती और पहनती थी उस से कुछ लोग यहाँ तक सोचते थे कि उसे अमरीका अपने देश से ज्यादा पसन्द है।

किन्तु उस से बातें करके मैंने जाना कि वह सुमन का वास्तविक चरित्र

नहीं; वह तो उसका बाह्य रूप था। मैं जानती हूँ कि सुमन उतनी ही सच्ची भारतीय है जितना मेरा कोई अन्य मित्र।

वह सुमन ही थी--जो मुझे भारतीय शादी में ले गयी थी, जो मुझे अक्सर अपने घर खाने के लिए और परिवार के कामों, त्योहारों और समारोहों में भाग लेने को बुलाती थी।

वह सुमन ही थी, जो मुझे उन भीड़-भाडवाले बाज़ारों और छोटे उपहार-गृहों में ले जाती थी, जहाँ मैंने भारतीय नगर के चहल-पहल-भरे जीवन को उसका एक अंग बन कर देखा। और वह सुमन ही थी, जो मुझे रामलीला ले गयी थी, जहाँ मैंने भारत के प्रसिद्ध महाकाव्य रामायण का अभिनय देखा।

मैं सिर्फ़ यही आशा कर सकती हूँ कि मैंने सुमन को अमरीका का उसी प्रकार परिचय देने में सहायता प्रदान की, जिस प्रकार उसने अपने देश को समझने और देखने में मुझे मदद दी।

मैंने अमरीका के बारे में—अमरीका के छोटे-छोटे नगरों के बारे में, जो मैं जानती थी, उसे बताने की कोशिश की। मैंने उसके सामने अपने नगर का वर्णन किया कि लोग वहाँ कैसे रहते और काम करते हैं। मैंने वहाँ के स्कूलों और शिक्षा-प्रणाली की चर्चा की और उसे समझाया कि हमारे नगर और राज्य का शासन कैसे चलता है। मैंने उसे बताया कि वहाँ की बहुत-सी लड़कियाँ न तो नेल-पालिश लगाती हैं और न "बबिल गम" चूसती हैं और न सभी फ़िल्मी सितारों के नाम और उनके जीवन की गाथाओं से परिचित हैं।

फिर भी जब मेरे लिए भारत से विदा होने का समय आया, तब ऊपर से देखने पर मेरी तुलना में सुमन ज़्यादा अमरीकन लगती थी। और मैं, जिसने उसका पहनावा, उसकी भाषा और उसकी बहुत-सी रीतियाँ अपना ली थीं—बिलकुल भारतीय लगती थी। किन्तु इस सब के नीचे हृदय और मस्तिष्क में, सुमन भारतीय ही थी और मैं अमरीकी।

मेरे भारत से रवाना होने से पहले, सुमन ने मुझे बताया कि "वह एक लड़के से प्रेम करती है तथा उससे शादी करना चाहती है।" किन्तु भारत में प्रेम-विवाह इतने प्रचलित नहीं है और मैंने अनुमान किया कि सुमन कभी अपने माता-पिता की इस राय का उल्लंघन नहीं करेगी कि उसका पति उसी की जाति

का होना चाहिए। सुमन का मित्र उसकी जाति का नहीं था। इसलिए जब कुछ समय बाद उसने मुझे लिखा कि उसके परिवारवालों की इच्छा से उसकी सगाई उसी की जाति के एक व्यक्ति से हो गयी है, तो मुझे आश्चर्य नहीं हुआ।

मेरे दिल्ली पब्लिक स्कूल की मित्रों में सुमन मेरी सबसे घनिष्ठ मित्र थी। कुछ घनिष्ठता औरों से भी थी। इन दोस्तियों ने मेरे लिए यह सिद्ध कर दिया, जैसा इसी प्रकार की दोस्तियों ने दूसरों के लिए भी सिद्ध किया कि यह ज़रूरी नही है कि पूर्व और पश्चिम एक-दूसरे के लिए अजनबी बने रहें।

पाँच

दक्षिण-यात्रा

१९५१ के दिसम्बर तक सैली, सैम और मैंने भारत में सिवाय दोनों दिल्लियों, इटावा की सरकारी विकास-योजना और दिल्ली के आस-पास के दर्शनीय स्थानों के अतिरिक्त कुछ नहीं देखा था। इसलिए जब चेट ने महीने के मध्य में दक्षिण भारत जाने की योजना बनायी और हमें स्कूल से छुट्टी लेकर उनके साथ जाने का मौक़ा मिला तब हम बहुत प्रसन्न हुए।

दिल्ली से हवाई जहाज़ की छः घंटे की यात्रा के पश्चात तीसरे पहर हम दक्षिण भारत के सबसे बड़े नगर मद्रास पहुँचे। मद्रास भारत के पूर्वी तट पर, बंगाल की खाड़ी के किनारे बसा हुआ है। ज्यों-ज्यों हम नगर के निकट आते गये, त्यों-त्यों नीचे की ज़मीन की हरियाली धीरे-धीरे बढ़ती गयी और तभी काफ़ी दूरी पर मटमैला भूरा मद्रास दिखाई दिया। नगर के भूरेपन से लगी हुई थी बंगाल की खाड़ी की विस्तृत नीलिमा, जो हमारी दृष्टि की सीमा से परे कहीं पर नीले आकाश से एकाकार हो रही थी। बन्दरगाह में दर्जनों मिट्टी का तेल ले जाने वाले और माल ढोने वाले जहाज़, तटवर्ती यात्रा-स्टीमर और छोटी-छोटी नावें धूप में लंगर डाले हुए थीं या इधर-उधर दौड़-भाग कर रही थीं। ज्यों-ज्यों हम चक्कर काट-काट कर धरती के निकट आने लगे, त्यो-त्यों सुन्दर, छोटे-छोटे ताड़ के पेड़ और धान के खेत स्पष्ट होने लगे और हमने जाना कि हम दक्षिण में आ गये।

हम मद्रास में सिर्फ़ एक दिन ठहरे। उतने समय में हमने अधिकांश दक्षिण भारतीयों की मधुर भाषा तमिल के कुछ शब्द सीख लिये। दक्षिण भारत की तीन अन्य प्रमुख भाषाओं में से दो—तेलुगु और कन्नड़ की तरह—तमिल संस्कृत या उस से निकली भाषाओं से बिल्कुल असम्बद्ध है।

दक्षिण भारतीयों के लिए हिन्दुस्तानी वैसी ही अपरिचित है जैसी कि अंग्रेज़ी, और राष्ट्रभाषा के रूप में उसका स्वीकार किया जाना दक्षिण में ज्यादा पसन्द नही किया गया। बहुतेरे ऐसा अनुभव करते हैं कि इस समय अंग्रेजी को भारत की मुख्य भाषा के स्थान से हटाना भूल है, जब कि यह भाषा विश्व में इतने व्यापक रूप से बोली जाती है।

सबेरे ६॥ बजे से हमने अपना सारा दिन मद्रास की बहुत-सी संस्थाओं और संगठनों के देखने में बिताया। सबके अन्त में हमने विश्राम एवं आरोग्य-केन्द्र देखा, जो इस देश के आवास-गृहों से मिलता-जुलता था। यह केन्द्र पास-पड़ोस के लगभग ३०० परिवारों के लिए आरोग्य तथा मनोरजन की पूर्ण सुविधाएँ प्रदान करता था। बच्चे वहाँ दिन में आते, स्कूल जाते, आयोजित मनोरजनों में भाग लेते और डाक्टरी सहायता प्राप्त करते थे।

यह संस्था तथा बहुत-सी अन्य संस्थाएँ, जिन्हें हमने देखा, इसी विशेष उद्देश्य को लेकर स्थापित की गयी थीं कि भारत के लोगों को ऊँचे स्तर के जीवन-यापन में सहायता प्रदान की जाय। इन संगठनों और संस्थाओं में काम करने वाले ज्यादातर लोग, बहुत ज्यादा आशावान दिखाई देते थे और अपने प्रयत्नों के प्रति गौरव का अनुभव करते थे। उन्हें अपने काम पर गर्व था। शायद वे विश्वास करते थे (जैसा मैं विश्वास करती हूँ) कि एक व्यक्ति जहाँ तक बन पड़े अपनी शक्ति भर काम कर ले, भले ही वह काम कम क्यों न हो; तो वह दूसरों की छोटी-छोटी सफलताओं में मिल कर, बड़ी और महत्वपूर्ण सफलता बन जाता है। बाद को, हमने इसी प्रकार की आशापूर्ण मनोभावना भारत के बहुत-से भागों में पायी।

दूसरे दिन तड़के ही, हम कार द्वारा मद्रास से बंगलूर के लिए रवाना हुए, जो २५० मील पश्चिम में है। तीसरे पहर से पहले, मद्रास राज्य पार करके मैसूर राज्य में प्रवेश करने के कुछ ही देर बाद हम कोलार नगर में रुके। यहाँ अमरीका के एक ईसाई मिशनरी दल की ओर से हमें हार पहनाये गये और

हमारा स्वागत किया गया। यह दल कोलार-क्षेत्र में जन-स्वास्थ्य और साक्षरता के कार्य मे जुटा हुआ था। मेरे लिए अमरीकी मिशनरियों के सम्पर्क में आने का यह पहला अवसर था। मैं उनके कार्य से बहुत प्रभावित हुई।

मैंने कितनी ही बार एक और तरह के मिशनरियों के बारे में सुना था। उन मिशनरियों के बारे में जिनका एक-मात्र लक्ष्य उन भारतीयों को ईसाई बनाना था, जिनके साथ वे काम करते थे। इसलिए कोलार के मिशनरियों से मिल कर और यह जान कर मुझे बडा हर्ष हुआ कि सभी मिशनरी एक-मात्र धर्म-परिवर्तन में संलग्न नहीं हैं, जैसा मैंने समझ रखा था।

बाद को मेरा अन्य मिशनरियों से भी परिचय हुआ, जिन्होंने अपनी शक्ति धर्म निरपेक्ष कार्यों में लगा रखी थी। मुझे सारे भारत के उन दलों के बारे में भी जानने को मिला जो उतने ही निःस्वार्थ भाव से और "सच्चे ईसाइयों" की तरह काम कर रहे हैं, जिस प्रकार कोलार के लोग। भारत के मिशनरियों में रोमन कैथोलिकों की अधिकता है। बाकी ज्यादातर या तो एपिस्कोपेलियन है या मेथोडिस्ट।

जैसे-जैसे हम कोलार के निकट आये, वैसे-वैसे दृश्य अधिक बंजर होता गया और चट्टानों से ढँकी पहाड़ियाँ मैदानों में उठती हुई दिखाई देने लगी थीं। यहाँ धान, ज्वार और जौ की फसले जल के लिए तरस रही थीं।

जरा हरे-भरे और कम बंजर छोटे-छोटे गाँव हमें रास्ते में मिले। कभी-कभी हमें पत्थर या ईट का मकान देखने को मिला, जो मामूली मिट्टी के बने और ताड़ से छाये हुए झोंपडों के बीच अलग-सा लगता था। बहुत से गाँवों के सिरों पर पत्थर से निर्मित हिन्दू मन्दिर दिखाई दिये, जिन पर बड़ा सुन्दर खुदाई का काम किया हुआ था। वहाँ ईसाई और इस्लाम धर्म के भी चिह्न मौजूद थे। सड़क के किनारे-किनारे बरगद के मनोहर पेड़ दूर-दूर तक चले गये थे। उनकी डाले विस्मय-जनक लम्बी थीं। एक-एक डाल में से कई डालें निकली हुई थीं, जिन्होंने ज़मीन में अपनी जड़ें जमा ली थीं।

हम शाम को बंगलूर पहुँचे और दूसरे दिन सबेरे जल्दी ही वहाँ से दक्षिण-पश्चिम की ओर रवाना हो गये। वहाँ हम मैसूर महाराजा के राजमहल को देखने के लिए ठहरे। महाराजा वहाँ नही थे, किन्तु उनके सहायकों ने हमें महल दिखलाया। मैं उसे देख कर वैसे ही चकित हो गयी जैसे कि बम्बई के ताजमहल

होटल को देख कर हुई थी। ग़रीबी से ग्रस्त जिन सड़कों पर होकर हम आये थे उनमें और इसमें जो अन्तर था उससे मैं चकित हुई और क्रोधित भी।

वहाँ सोने, चाँदी, संगमरमर और काँच का सामान था; जगमग-जगमग करते कमरे और हाल थे, जो मसाले लगाये हुए पशुओं से भरे हुए थे। वह तो उन कल्पित महलों जैसा था जिन के बारे में मैंने बचपन में परियों की कथाओं में सुना था। ऐसे महल पृथ्वी पर होंगे यह मैंने कभी सोचा भी नही था।

जब हम उस कल्पना-लोक जैसे स्थान से निकल कर महल के निकट की सड़क पर पहुँचे, तब एक पुलिसवाले ने हमें रोका और कहा कि हमें चक्कर काट कर जाना होगा; क्योंकि महाराजा साहब आने वाले हैं और सड़क खाली होनी ही चाहिए। मेरा हृदय विद्रोह से भर गया और मैं सोचने लगी कि यह विद्रोह मेरे अमरीकी होने के कारण संस्कारों का परिणाम था या मैसूर की सड़क पर चलने वाला व्यक्ति भी ऐसा ही अनुभव करता है। मुझे यह भी विचार आया कि अपनी भूतपूर्व प्रजा का रास्ते से हटाया जाना स्वयं महाराजा को कैसा लगता होगा? शायद प्रजा और महाराजा दोनों ने इसके सिवाय और कुछ जाना ही नही था।

देश स्वाधीन हो जाने के समय से ऐसे वंश-परम्परागत महाराजाओं की राजनीतिक सत्ता नहीं के बराबर हो गयी है। कुछ को जनता ने शासन-तंत्र के लिए चुना है और वे अपने जीवन को नये भारत के निर्माण में लगा रहे हैं। दूसरे अब भी उस धन से, जो भारत-सरकार ने उन्हें राजसी सत्ता से हटाने पर दिया था, विलास का जीवन बिता रहे हैं।

मैसूर से हम दक्षिण की तरफ़ ऊटकमण्ड की ओर बढ़े। यह नगर पश्चिमी घाट की पर्वतमाला के एक भाग में नीलगिरी की पहाड़ियों में ऊँचाई पर स्थित है। ज्यों-ज्यों हम ऊँचाई पर पहुँचते गये, त्यों-त्यों हरियाली घनी होती गयी। शीघ्र ही हमने अपने को चारों ओर मनोरम जंगल से घिरा हुआ पाया; ऐसा जंगल जो नाज़ुक, पतले-लम्बे बाँस, ऊँचे और शानदार सागौन और तैलयुक्त सुन्दर युकालिप्ट्स के वृक्षों से भरा था। अपने भारत-प्रवास में मैंने जो देखा उसमें इस स्थान को सब से अधिक सुन्दर भाग के रूप में मैं आज भी याद करती हूँ। मुझे शुष्क और समतल दिल्ली में इस हरियाले, जंगली, पर्वतीय प्रदेश का अभाव बेहद खटकता था।

ज्यों-ज्यों हम चक्कर काटते हुए और बहुत ही घुमावदार मोड़ों पर चींटी की चाल से ऊँचे ही ऊँचे चढ़ते गये, त्यों-त्यों ठंडक बढ़ती गयी। चाय की छोटी झाड़ियों के बाग़ान, धान के व्यवस्थित खेत और कई एकड़ में फैले सरकारी सिन्कोना वृक्ष, जिनकी छाल से कुनीन तैयार की जाती हैं, हमारे रास्ते में पड़े।

हमने ऊटकमण्ड में दूसरा दिन—जो रविवार था, विश्रामदायक हरियाली में धूप का सेवन करके बिताया। बड़े दिन में एक सप्ताह से कुछ ही ज्यादा दिन बाकी थे। बड़े दिन से पहली रात को सैली, मैं और एक दक्षिण भारतीय ईसाई, जो हमारे साथ ही यात्रा कर रहा था, बड़े दिन के पूर्व की उपासना के लिए एक छोटे-से गिरजाघर में गये, जो नगर के बाज़ार के पास वाली पहाड़ी पर स्थित था। यह छोटा और सादा गिरजाघर १९ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में बना था। हमारे पहुँचने के पहले ही गिरजाघर झुकी हुई कमर वाले बूढ़ों से लेकर, कम्बलों में गठरी बने हुए दूध-पीते शिशुओं, जाकिट और रोयेदार टोपी पहने हुए पुरुषों और गर्म ऊनी शाल ओढ़ी हुई औरतों से भर गया था।

गिरजाघर और उपासना की सादगी मनोरम थी। उपासना की वेदी लकड़ी के सादे क्रास, लम्बी श्वेत मोमबत्तियों और हरी-भरी डालियों से सजी हुई थी। उपासना तमिल और अंग्रेज़ी दोनों में हुई, जिसमें ज्यादातर बड़े दिन के गीत गाये गये।

तमिल भाषा के गीत, अमरीका में प्राय: गाये जाने वाले गीतों की अपेक्षा अधिक मधुर और भावपूर्ण थे। उन्हें गम्भीरता और भावना पूर्वक गाया गया था।

ऊटकमण्ड की यात्रा हमने पर्वत के उत्तरी भाग में की थी। दो दिन के बाद जब हम वहाँ से रवाना हुए, तब हम दक्षिण भाग से नीचे उतर कर समुद्रतट के त्रावणकोर-कोचीन राज्य के कोचीन नगर की ओर बढ़े। हमारी सड़क का टेढ़ामेढ़ापन धीरे-धीरे कम होता गया और अन्त में वह पर्वत की तलहटी में समतल और सीधी हो गयी। सड़क के दोनों ओर सुपारी के लम्बे पेड़, धान के खेत, कपास और काजू की फसलें खड़ी थीं, जो उस गर्म और तर प्रदेश की विशेष पैदावारें हैं, जिसमें हम अब पहुँच गये थे।

हमें पता था कि दक्षिण भारत में हमें हाथी देखने को मिलेंगे। जब हम अमरीका में थे, हमारा ख़याल था कि ये हाथी सारे भारत में आम तौर से पाये जाते हैं। उस दिन ऊटकमण्ड से कोचीन जाते हुए रास्ते में हमने पहली बार हाथी देखा। वह जंगली था।

मुख्य सड़क से दो मील दूर एक छोटे-से गाँव के निकट एक हाथी का बच्चा, एक गढ़े में, जो उसी उद्देश्य से खोदा और पेड़-पत्तों से ढँका गया था, फँस गया था। जंगल से लेकर गाँव तक की धूल भरी छोटी-सी सड़क बहुत ही ऊबड़-खाबड़ थी। इसलिए उस पर हमारी मोटर का चलना दुश्वार था। हमने धीरे-धीरे चलने वाली एक बैलगाड़ी के सहृदय गाड़ीवान का यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया कि वह हमें वहाँ पहुँचा देगा और वापस ले आयेगा।

गढ़े के चारों ओर उस छोटे हाथी (यदि हाथी के बच्चे को छोटा कहा जा सकता है) को देखने के लिए एक छोटी-सी भीड़ जमा थी और वह हाथी बड़े करुणापूर्ण ढग से मुक्ति पाने के लिए जी-तोड़ प्रयत्न कर रहा था। जंगली हाथी किसानों की फसलें बर्बाद कर देते हैं। इसके विपरीत पालतू और सिखाये हुए हाथी बहुत काम के होते हैं, यह चीज़ हमें उसी दिन बाद में मालूम हुई। अपने रास्ते में हमने कहीं-कहीं देखा कि हाथी काम में लगा हुआ था और पेड़ों की शाखाएं या लट्ठे खींच रहा था।

जैसे-जैसे हम तट के निकट आते गये, वैसे-वैसे जमीन अधिक रेतीली होती गयी और हमारी सड़क बहुत-से छोटे जलप्रवाहों, नहरों तथा पानी के निकासों के ऊपर होकर गयी थी। एक स्थान पर हमने और हमारी मोटर ने एक छिछली किन्तु तेज़ बहने वाली नदी को लकड़ी के सपाट तख्ते पर पार किया, जो दो लम्बी-लम्बी नावों पर टिका हुआ था।

जिस समय हम नदी पर पहुँचे, उस समय झुटपुटा था और जब अन्त में हम उस पार पहुँचे तब अँधेरा हो गया था। दूसरे किनारे के पेड़ों पर चन्द्रोदय हो रहा था। उसका प्रकाश पानी की लहरों पर झिलमिल-झिलमिल कर रहा था। वहाँ की शान्ति मनोहारी थी। केवल बीच-बीच में दूर से असख्य मेढकों की आवाज़ और जहाँ, हम उस पार जाने के लिए अपनी बारी आने की प्रतीक्षा कर रहे थे, वहाँ सड़क के किनारे की छोटी-सी चाय की दुकान के लोगों की बात-चीत की ध्वनि सुनाई दे रही थी।

दूसरे दिन सवेरे हम कोचीन से कन्याकुमारी के लिए रवाना हुए, जो भारत के ठीक अन्तिम छोर पर है। उस दिन हम जिस प्रदेश से होकर गुजरे वह बहुत ही सुन्दर और हरा-भरा था। भारत के जो-जो भाग मैंने अब तक देखे थे, यह प्रदेश उन सबों से भिन्न था। पहली दृष्टि में त्रावणकोर-कोचीन समृद्ध, सन्तुष्ट और शान्तिमय लगा। भूमि नैसर्गिक सुन्दरता से सजी हुई थी। आकाश की नीलिमा के समक्ष खड़े हुए वे लम्बे शानदार नारियल के वृक्ष, घनी हरियाली, अनन्त तट की सफ़ेद बालू, नील-हरित शान्त विशाल सागर, जो अफ्रीका तक फैला हुआ था, और फूस की छतों वाले देहाती-घर, तट के किनारे-किनारे जिनकी लगातार, लगभग एक सरीखी पंक्ति धरती और पेड़ों से एकाकार हो रही थी।

अपनी पर्याप्त प्राकृतिक उपज—नारियल के वृक्षों—से जो जीवन की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं; बहुत काफ़ी जल-वर्षा से और मध्यम प्रकार की जलवायु से वह धरती समृद्ध भी थी।

किन्तु वह सौन्दर्य और समृद्धता छलपूर्ण थी। इस भ्रामक चेहरे के नीचे छिपी हुई थी भारत की निकृष्टतम निर्धनता, भयंकर रूप से बढ़ी हुई जन-संख्या, दम घोटनेवाली ज़मीदारी-प्रथा और उन कम्युनिस्टों की हिंसा जो ऐसे क्षेत्रो की ओर खिंचे चले आते हैं।

इस तटीय क्षेत्र के ग्रामीणों की बहुत बड़ी संख्या लगभग पूरी तरह से इन नारियल के वृक्षों पर निभर है, जो वहाँ बहुतायत से पैदा होते हैं। वे उस विशाल वृक्ष के किसी भाग को व्यर्थ नही गँवाते।

जो नारियल हम अमरीका मे दुकानो पर ख़रीदते हैं, उनके ऊपर मूलतः हरा और रेशेदार छिलका होता है। हमारे पास यह नारियल पहुँचाने से पहले मज़दूर उसके उस खोल को उतार देते हैं। रेशे साफ़ कर दिये जाने पर यह खोल ईंधन और खाद के लिए बहुत उपयोगी होता है। गाँव वाले रेशे को रस्सियाँ बनाने, चटाइयाँ और टोकरियाँ बुनने के काम में लाते हैं।

खोल के नीचे बीज होता हैं जिसे हम नारियल की गिरी कहते हैं। यह गिरी प्रायः वैसे ही खायी जाती हैं या सुखाकर और बारीक काट कर निर्यात की जाती हैं या उसे पेर कर तेल निकाला जाता है। नारियल के पानी में प्यास बुझाने का अद्भुत गुण होता है।

सभी जगह हमें किसी-न-किसी रूप में नारियल के वृक्षों के अंश देखने को मिले। अधिकांश छोटे-छोटे घरों की छतें नारियल के चौड़े पत्तों से छाई हुई थीं। चटाइयाँ और टोकरियाँ पत्तों के डंठलों या नारियल की जटाओं की बुनी हुई थीं।

बड़ी-बड़ी गाड़ियाँ और समुद्र या नहर के किनारे की नावें हरे छिलके से भरी हुई थीं और टोकरियाँ जटाओं से भरी थीं। कई जगह, सड़क के किनारे, चटाइयों पर नारियल की गिरी तेज धूप में सूख रही थी।

उस क्षेत्र के अधिकांश लोग नारियल-उत्पादन और उद्योग के विभिन्न अंगों में लगे हुए हैं; किन्तु उन्हें अमीर और शक्तिसम्पन्न भूस्वामी, जिन पर उनका कोई वश नही है, बहुत थोड़ी मज़दूरी देते हैं। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि वे असन्तुष्ट हैं और हिंसा की ओर बड़ी आसानी से बहका लिये जाते हैं।

भूमि-सुधार, जिसके प्रमाण हमें सब जगह देखने को मिले, राजनीतिक आन्दोलन का एक महत्वपूर्ण अंग था। १९५१ में भारत के प्रथम लोकतांत्रिक चुनावों में प्रत्येक राज्य की मतदान की तारीख जुदा-जुदा थी। त्रावणकोर-कोचीन की बारी हमारे वहाँ से रवाना होने के बाद जल्दी ही आनेवाली थी। पोस्टर, सूचनाएँ, झण्डे, मोटरें, गाड़ियाँ, सम्मेलन, सभाएँ तथा जुलूस उम्मीद-वारों और पार्टियों का प्रचार कर रहे थे। जिस तरह जगह-जगह हमें पं० नेहरू और कांग्रेस पार्टी का तिरंगा दिखाई दिया, उसी तरह कम्युनिस्टों और वाम पक्षीय दलों के संयुक्त मोर्चे का झण्डा गहरे लाल रंग का था। एक गाँव में हम कुछ उत्तेजित लोगों के छोटे-से जुलूस के पास से होकर गुज़रे। वे लोग लाल झण्डे लिये हुए थे और सब मिल कर अपनी क्षेत्रीय भाषा में चिल्ला रहे थे—"कम्युनिस्ट पार्टी को वोट दो!"

बाद को दिल्ली वापस आने पर चुनावों के परिणामों से हमें पता चला कि राज्यों में कम्युनिस्ट बहुमत प्राप्त करने में असफल रहे। १९५४ में नये चुनाव हुए और हमें यह जानकर प्रसन्नता हुई कि कम्युनिस्टों की शक्ति धीरे-धीरे घटती हुई प्रतीत हो रही थी।

शाम के समय हम कन्याकुमारी पहुँचे। यहाँ भारत के चरणों में, एक छोटी-सी लड़की से मेरी भेंट हुई और मेरा खयाल है कि मैं उसे बहुत समय

तक याद रखूंगी। उसका नाम मेरी था और वह कोई दस बरस की लगती थी। हमें वह समुद्र तट पर मिली, जहाँ वह अपनी बनायी हुई शंख की सुन्दर-सुन्दर मालाएँ बेचने के निश्चय से हमारे पास आयी थी। जब हमने उसकी इच्छा पूरी कर दी, तब उसने तुरन्त अपने चेहरे की गम्भीरता और व्यापारिक मनोवृत्ति का नकाब उतार फेंका और बचे हुए सामान को अपनी जेबों मे ठूंस कर समुद्र तथा रेत में खेलने वाली बालिका जैसी बालिका हो गयी। हम तट पर टहलते हुए आगे बढ़ रहे थे और वह हमारे आगे-आगे दौड़ लगाती हुई उन लहरों के साथ, जो पैरों को छूने की असफल चेष्टा कर रही थीं, खिलवाड़ करती जा रही थी। उसकी कल्पनापूर्ण सहायता से सैली, सैम और मैंने रेत का एक सुन्दर महल बनाया।

जब हम वहाँ से चले, मेरी निर्जन तट पर वहीं खड़ी थी, जहाँ वह हमें मिली थी। वह वैसी ही उन्मुक्त थी जैसी की वायु; वैसी ही चंचल थी जैसी कि समुद्र की लहरें और वैसी ही प्यारी थी जैसी कि रेत और उसके खेलने के सुन्दर घोंघे!

भारतीय प्रायद्वीप के अन्तिम सिरे—कन्याकुमारी के तट पर खड़े हो कर मैंने अपने को बिलकुल एकाकी और संगीहीन महसूस किया। मेरे पैरों के पास गहन नीलिमा से युक्त जलवाला अरब सागर, बंगाल की खाड़ी और हिन्द-महासागर आपस में मिल कर दक्षिण की ओर दृष्टि से भी परे तक फैले हुए थे। न जाने कैसे मैने अनुभव किया कि मुझे कोई समुद्र, वायु, आकाश और सामने के सुन्दर नारंगी रंग के सूर्यास्त के विशाल-विस्तार में धकेल रहा था। मेरे पीछे थी—आगे बढ़ती हुई प्रायद्वीप की असंख्य जनता।

वहाँ अकेले खड़े-खड़े मुझे ब्रह्माण्ड दो बिलकुल भिन्न भागों में बँटा हुआ प्रतीत हुआ हो। समुद्र, वायु और आकाश का विशाल-विस्तार जो मेरे सामने फैला हुआ था, मुझे एक भाग का प्रतीक जान पड़ा। इसे मैंने प्रकृति की महानता की संज्ञा दी थी। वह अत्यन्त सुन्दर थी; किन्तु अलिप्त और अकेली।

मेरी पीठ के पीछे फैले हुए भारत की विशाल जन-संख्या मुझे ब्रह्माण्ड के दूसरे भाग का प्रतीक जान पड़ी। यह भाग था मनुष्य जाति का, मानवता का। यह बड़ा अपनत्वपूर्ण, सहृदय और मित्रतापूर्ण था। फिर भी बहुधा प्रबल और समझ में न आनेवाला तथा कृत्रिम रूप से छोटे-छोटे और संघर्ष-रत दलों

और आगे बढ़ कर अलग-अलग व्यक्तित्वों में बँटा हुआ था।

दूसरे दिन हमने त्रिवेन्द्रम से, जो पश्चिमीघाट से पचास मील दूर था, रवाना होकर दक्षिण भारत से विदा ली। पहले ही मैंने देश को दो सामान्य भागों में बाँट दिया था—एक उत्तर भारत और दूसरा दक्षिण भारत। दक्षिण में आने से पूर्व मैं उस भारत को प्यार करने लगी थी, जो दिल्ली और आम-तौर पर शुष्क तथा रंगीन उत्तरार्द्ध में प्रतिबिम्बित था। अब दक्षिण भारत के हरे-भरे जल-प्लावित और गम्भीर प्रदेश में दो सप्ताह बिता लेने के बाद मैं भारत को और भी अधिक प्यार करने लगी तथा मुझे अपने इस कथन में और अधिक औचित्य जँचने लगा कि मैं भारत को प्यार करती हूँ।

छः

गांधीजी का 'सेवाग्राम'

भारत के मध्यप्रदेश में, मानो उसके हृदय में, एक छोटा किन्तु अत्यधिक महत्वपूर्ण गाँव है जिसका नाम है—सेवाग्राम। उस छोटे-से गाँव का यह 'सेवाग्राम' नाम और उसका महत्व नया ही है। वैसे तो गाँव पुराना है और १९३५ के वसन्त तक किसी भी भारतीय गाँव जैसा ही एक गाँव था। तभी सारे राष्ट्र में सम्मानित महात्मा गांधी वहाँ रहने के लिए गये।

गाँव के किनारे गांधीजी ने एक आश्रम की ऐसी जगह स्थापना की, जहाँ वे तथा दूसरे लोग गांधीजी के सिद्धान्तों के अनुसार रह सकें। सेवाग्राम में इस प्रकार के आश्रम की सृष्टि उन्होंने मुख्यतया यह सिद्ध करने के लिए की कि भारत के पिछड़े-से-पिछड़े गाँव में भी एक शिष्ट-समाज का विकास किया जा सकता है। इस लक्ष्य की पूर्ति की दिशा में गांधीजी और उनके दो शिष्यों—आर्यनायकम् और उनकी पत्नी आशादेवी ने जो मुख्य क़दम उठाया वह था—"नयी तालीम" नाम की नयी शिक्षा-पद्धति का निर्माण, जिसे सेवाग्राम की पाठशालाओं में कार्य रूप में परिणत किया गया। गांधीजी का विश्वास था कि "जीवन में कोई छोटी-से-छोटी चीज भी ऐसी नहीं जिसका शिक्षा से सम्बन्ध

न हो ।" इसीलिए वे अपनी इस नयी शिक्षा-पद्धति को "जीवन के लिए शिक्षा" कहते थे ।

शिक्षा और जन-स्वास्थ्य के प्रति स्टेब को विशेष रुचि है; अतएव सेवाग्राम जाने की उनकी बड़ी इच्छा थी । इसलिए सन् १९५२ की जनवरी के मध्य में एक संध्या को वह, सैली, सैम और मै दिल्ली रेलवे स्टेशन से दक्षिण की ओर जानेवाली गाड़ी पर सवार हुए और दूसरे दर्जे के एक छोटे डिब्बे में आराम से बैठ गये । जल्दी ही हमारी गाड़ी धीमी चाल से स्टेशन के पार हुई । फिर उसने रफ़्तार पकडी । शहर पीछे रह गया और रेल अंधेरे को चीरती हुई आगे बढ़ने लगी । हम दूसरे दिन रात को वर्धा पहुँचनेवाले थे, जो सेवाग्राम से पाँच मील की दूरी पर एक छोटा-सा स्टेशन है ।

हमारे डिब्बे मे चमड़े के गद्दोंवाली दो सीटें नीचे थी । दीवार से लगी हुई दो सीटें ऊपर भी थीं । इस प्रकार चार व्यक्तियों के सोने की व्यवस्था थी । सभी भारतीय रेलों के डिब्बों की तरह यह डिब्बा भी बहुत लम्बा था । दोनों तरफ़ एक-एक दरवाज़ा था और लोहे की छड़ों वाली दो-दो खिड़कियाँ थीं जो खुल सकती थी । छत में एक बिजली की बत्ती और पंखा लगा हुआ था । आगे-पीछे के डिब्बों से उसका कोई सम्बन्ध न था । इसलिए जब-तक गाड़ी किसी स्टेशन पर न रुके तब तक उसमें से कही आना-जाना नहीं हो सकता था ।

उस रात को केवल हम लोग ही उस डिब्बे में थे और रेल के पहियों की आवाज़ की थपकियों के बीच हम ख़ूब आराम से सोये । फिर भी स्टेशन पर रुकने के समय खोमचेवालों की चीख़-पुकार से हमारी नीद बीच-बीच में उचट जाती थी । रात के वक्त रह-रह कर "नारंगी, नारंगी; अच्छी-अच्छी नारंगी !"; "गरम दूध, गरम दूध"; "दाल-सेव, दाल सेववाला;" "चाय, चाय, गरम-चाय" की आवाजें रह-रह कर गूंज उठती थीं । मेरे भारत से रवाना होने तक ये आवाजें मेरी रेल-यात्रा के समय की नीद और सपनों की मनोरंजक पृष्ठभूमि बन चुकी थी ; किन्तु उस रात को आवाजें अपरिचित और नयी थीं, जिन से हम जाग जाते थे ।

कभी-कभी खोमचेवाले की आवाज के साथ कोई भिखारी अपनी आवाज़ मिला देता था । एक जगह एक चचल-से लड़के ने खिड़की मे सिर डाल कर

झाँका और गिड़गिड़ा कर बोला—"दो पैसा दो, मेम साहब; माँ नहीं है, मेम साहब !—भूखा हूँ !" किन्तु वह खुब अघाया हुआ और तगड़ा दीखता था इसलिए हमने सोने का बहाना कर लिया; किन्तु दूसरे विकृत अंगवाले अपाहिज और मरियल भिखारियों से पीठ मोड़ लेना इतना आसान नहीं था।

अगले रोज़ दिन में गाड़ी जहाँ भी रुकती—कोई घण्टे-घण्टे भर बाद वह रुकती थी—हम बार-बार पानी पीने, कुछ फल ख़रीदने या सिर्फ़ अपने पैर सीधे करने के लिए डिब्बे से उतर जाते थे। हम एक सिरे से दूसरे सिरे तक चक्कर लगाकर पहले, ड्योढे और तीसरे दर्जे के डिब्बों का निरीक्षण करते थे।

पहले दर्जे का डिब्बा हमारे दूसरे दर्जे के डिब्बे से भिन्न नहीं लगता था; सिवाय इसके कि उसमें कम लोगों के बैठने का प्रबन्ध था और शायद उसकी गद्दियाँ ज़रा ज़्यादा नर्म थीं। पहले दर्जे के टिकट का मूल्य हमारे दूसरे दर्जे के टिकट से लगभग दूना था और वास्तव में बहुत कम लोग इतना ज़्यादा ख़र्च उठा सकते थे। मेरी समझ में नहीं आता कि आख़िर लोग पहले दर्जे में यात्रा क्यों करते हैं; सिवाय इसके कि वे इसी में अपनी प्रतिष्ठा मानते हैं।

ड्योढ़े दर्जे के डिब्बे दूसरे दर्जे के डिब्बे से ज़रा बड़े थे लेकिन उनमें बहुत ज़्यादा लोग बैठे थे। उनमें बैठने की बेंचों जैसी सीटें कम चौड़ी थीं और उन पर चमड़े के पतले गद्दे लगे हुए थे। तीसरे दर्जे के डिब्बों में हमेशा ही बुरी तरह भीड़-भाड़ रहती है और उनकी कम चौड़ी सीटों पर गद्दे नहीं होते हैं। दिल्ली से वर्धा तक के दूसरे दर्जे के प्रत्येक टिकट के लिए हमें लगभग साठ रुपये अथवा क़रीब बारह डालर देने पड़े थे। तीसरे दर्जे के टिकट के शायद बीस रुपये या चार डालर से अधिक नहीं लगते।

बाद को, मैंने जब कभी अकेले यात्रा की—मैं हमेशा तीसरे दर्जे में ही बैठती। वहीं मैं सभी प्रकार के भारतीयों से मिली। मुझे उनसे बातें करने, उनके साथ भोजन करने और उनके बच्चों के साथ खेलने का मौका मिला।

ये तीसरे दर्जे की यात्राएँ, और दूसरे दर्जे में सेवाग्राम की यात्रा भी उस यात्रा से कितनी भिन्न थी, जो एक महीने बाद हमने पहले दर्जे से भी बढ़िया दो डिब्बों में नेपाल जाने के लिए की थी—और मुझे कैसी अजीब अनुभूति हुई थी। इस नेपाल-यात्रा की धूम-धाम मुझे नहीं सुहाई और मैंने चाहा कि काश ! इस प्रकार की धूम-धाम और सम्पन्नता का परम्परानुसार कूटनीतिज्ञों

और सरकारी अधिकारियों से अटूट सम्बन्ध न होता !

मुझे विश्वास है कि रास्ते के स्टेशनों पर जो लोग हमें कौतूहल से देखते थे—वे उन लोगों के साथ, जिन्हें वे अपने से ऊँचा समझते थे, वैसा आचरण नहीं करते जैसा वे अपने मित्रों और बराबरवालों से करते हैं। इसीलिए मैं चाहती थी कि मेरे माता-पिता तथा दूतावास के दूसरे लोग, जो हमारे साथ थे—किसी प्रकार अपनी हैसियत को छिपा कर उन लोगों के साथ बराबरी की हैसियत से मिलने-जुलने में समर्थ होते।

हम उन लोगों का सही अध्ययन कर सकते हैं। हम एक-दूसरे का अभिवादन कर सकते हैं और साथ-साथ मुस्करा सकते हैं। हमारा इस प्रकार का मिलन मैत्रीपूर्ण होते हुए भी मर्यादित होता है। मेरा विश्वास है कि इस आधार पर कोई किसी व्यक्ति, उसके परिवार या उसके गाँव के लोगों के साथ वास्तविक, अनौपचारिक घनिष्ठता स्थापित नहीं कर सकता।

मुझे यह आवश्यक लगता है कि वे लोग तुम्हें अपनायें—या तो तुम्हारी असलियत के आधार पर—जिसमें दुर्भाग्य से काफ़ी समय लगता है, या उन लोगों के व्यवहार, बोल-चाल और वेशभूषा से तुम्हारे समन्वय के आधार पर। मेरी कामना है कि दुनिया के लोगों को शीघ्र ही ऐसा अवसर और ऐसी इच्छा प्राप्त हो ताकि वे दूसरों को उनकी असलियत के आधार पर अपनाने के उद्देश्य से, एक-दूसरे को जानें। हर एक व्यक्ति महसूस करे कि वह वास्तव में दूसरों से भिन्न नहीं है और जो भिन्नताएँ विद्यमान हैं, वे मैत्री के मार्ग में बाधक नहीं होनी चाहिएँ।

पहले दर्जे की भव्य नेपाल-यात्रा का एक और पहलू था, जिसने मेरे विचारों को झकझोरा, उसी तरह जिस तरह औरों के विचारों को झकझोरा था। गांधीजी ने एक बार कहा था कि "जब तक एक भी स्वस्थ औरत या मर्द बेकार या भूखा रहता है, तब तक हमें आराम करने या भर पेट भोजन करने में शर्म आनी चाहिए।" इसीलिए गांधीजी कम-से-कम भोजन करते थे और उतना ही आराम करते थे जितना कि अनिवार्य था। बाकी समय वे इस चिन्ता में लगाते थे कि भारत के प्रत्येक नर-नारी को काम और भोजन मिले।

मैं इस में विश्वास नहीं करती जैसा गांधी जी करते थे, कि चूँकि और

लोग "भूखे या बेकार" हैं, इसलिए हमें भोजन और आराम करने में लज्जा आनी चाहिए; किन्तु मैं यह अवश्य मानती हूँ कि ज़रूरत से ज्यादा भोजन, ज़रूरत से ज्यादा आराम और धन का बहुत अधिक दिखावा जैसी चीज़ें भी होती हैं। एक ऐसी सीमा है, जहाँ व्यक्ति महसूस कर सकता है कि वह मज़े मे हैं। प्रत्येक व्यक्ति रोज़ी, चिन्ता-रहित और भरे-पूरे घर, अच्छे भोजन और इच्छा अथवा ग्रहण-शक्ति के अनुसार अधिक-से-अधिक शिक्षा के रूप में उस सीमा को प्राप्त करने का अधिकारी है। इस सीमा के पार, बाहुल्य प्राप्त करना, मेरे ख़याल से अनावश्यक और अनुचित है।

इसलिए मुझे खेद था कि हमारी नेपाल-यात्रा इतनी धूम-धाम की थी; किन्तु शिष्टाचार के अनुसार ऐसे महत्वपूर्ण अवसर पर इस प्रकार की धूम-धाम हमारे लिए आवश्यक थी। इसकी तुलना में हमारी सेवाग्राम की यात्रा शारीरिक रूप से न सही, मानसिक रूप से कितनी आरामदेह थी। गाड़ियो की तरह स्टेशनों पर भी भीड़-भाड़ थी। कुली सिर पर ट्रंक या बड़े सन्दूक या पिटारियाँ उठाये प्लेटफार्म पर एक सिरे से दूसरे सिरे तक दौड़ लगाकर खाली जगह के लिए रेल की खिड़कियों में झाँकते थे। परिवार-के-परिवार उनके पीछे चले जाते थे। प्लेटफार्म पर खोमचेवाले अपने छोटे-छोटे ठेले ढकेलते हुए या अपनी डलियों को बड़ी सावधानी से उठाये हुए भीड़ में धक्कम-धक्का करते हुए चले जाते थे और बीच बीच में अपने सामान की ज़ोरों से आवाज़े लगाते जाते थे। एक व्यक्ति खिड़की-खिड़की जाकर यात्रियों के पीतल के लोटे या मिट्टी के वर्तनों को पीने योग्य पानी से भरता था; डिब्बों में तो पानी की व्यवस्था थी नही।

गाडी काफ़ी देर तक ठहरती थी और यात्रियों के परिवार प्लेटफार्म के किनारे बैठकर भोजन या आराम करते थे; नल के चारों ओर जमा होकर पानी पीते और स्नान करते थे। लोग अपने पीतल के लोटे भर-भर कर अपने ऊपर उड़ेल कर नहाते थे; वे बड़ी होशियारी से साफ़ धोतियाँ बदल कर उस धोती को, जिसे अब तक पहने हुए थे, धोकर धूप में सूखने के लिए फैला देते थे।

धूल-धूसरित किन्तु आराम-दायक यात्रा के बाद हम वर्धा पहुँचे। एक लम्बा व्यक्ति, जो घर के कते हुए सूत की सफ़ेद पोशाक पहने हुए था, तुरन्त हमारे पास आया। उसने हमारा अभिवादन किया और आर्यनायकम् के नाम

से अपना परिचय दिया। हम जानते थे कि आर्यनायकम् अपनी पत्नी आशा-देवी के साथ—दोनों बाद को मेरे माता-पिता के घनिष्ठ मित्र हो गये—सेवा-ग्राम की बुनियादी शिक्षा पाठशाला का संचालन करते थे और गांधीजी के निकटतम सहयोगियों मे से थे।

जब हम एक पुरानी मोटर में बैठ कर कच्ची सडक से आश्रम जा रहे थे, तब (मुझे लगा कि अच्छा होता यदि मैं पैदल चलती) हमारे मेजबान ने दुग्धशाला, अस्पताल और पुस्तकालय की ओर संकेत किया, जिन्हें हम दूसरे दिन सुबह देखने वाले थे। हम आश्रम ठीक ऐसे वक्त पहुँचे कि संध्या की प्रार्थना में अन्य लोगों के साथ शामिल हो सके।

तारो-भरे धुँधले आसमान के नीचे हम चुपचाप जमीन पर, सभा में एक किनारे बैठ गये। प्रार्थनाएँ मराठी और हिन्दुस्तानी मे गायी गयी, इसलिए हम उन्हे समझ नही सके; किन्तु एक की वाक्य-रचना मे मुझे लगा कि वह 'लार्ड्स प्रेअर' (बाइबिल मे उल्लिखित एक प्रार्थना) होगी। बाद को हमे पता चला कि उस रात को हमने जिन प्रार्थनाओ को सुना था, वे प्रार्थनाएँ सभी धर्मो की थीं और 'लार्ड्स प्रेअर' भी उन मे थी। सवर्ण और हरिजन, हिन्दू, मुसलमान और ईसाई सभी एकत्र होकर कुरान, बाइबिल और भगवद्गीता के पाठ से ईश्वर की स्तुति की गयी थी। वहाँ शान्ति थी—नीरव और आनन्ददायक।

प्रार्थना सभा के बाद हमारे मेजबान श्री आर्यनायकम् और उनकी पुत्री मीटू, जो मेरी ही उम्र की थी, हमे वह छोटी-सी मिट्टी की पावन कुटिया दिखाने ले गये जिस में गांधीजी, जब कभी भी उन्हें जेल से फुरसत मिलती थी, सेवाग्राम आकर रहा करते थे। उनकी बहुत थोड़ी-सी और सादी चीज़े वैसी ही रखी थीं, जैसी वे उन्हे छोड़ गये थे।

भारतीयो के लिए वह कुटिया पावनतम स्थान है और उस छोटे-से कमरे में खड़े होकर कोई भी व्यक्ति आवाज़ करके नही बोला। वास्तव में मेरी भी बोलने की इच्छा नहीं हुई।

गांधीजी की कुटिया से कुछ सौ गज़ की दूरी पर मिट्टी और बाँस की सादी-सी अतिथिशाला थी, जहाँ हमें ठहरना था। हमने वहाँ पहुँच कर भारतीय भोजन किया, जो लगभग आश्रम के बगीचे में उगी हुई चीज़ों से ही तैयार किया गया था। भोजन बिलकुल सादा और बहुत ही कम मसाले का था; लेकिन था

बड़ा अच्छा—भात, चपाती, भाजी, दाल और एक मिठाई।

गांधीजी के स्वप्नों में एक स्वप्न यह भी था कि एक दिन भारत व
प्रत्येक गाँव आत्म-निर्भर हो जाय। उन्होने एक बार कहा था—"ग्राम-स्वराज्य
मेरा आशय यह है कि हर गाँव पूर्ण गण-राज्य हो, अपनी आवश्यकताओं
लिए पड़ोसियों पर किंचित्‌मात्र भी निर्भर न हो। परन्तु उन बातों में, जिन
एक दूसरे पर निर्भर रहना आवश्यक है, वे एक दूसरे पर निर्भर हों। इस प्रका
प्रत्येक गाँव का सर्वप्रथम काम होगा कि वह अपने खाने-पहनने के लिए अ
और कपास उत्पन्न करे। पशुओं के लिए चरागाह हो; प्रौढ़ों और बच्चों
लिए मनोरंजन तथा खेल के मैदानों की व्यवस्था हो; गाँव का अपना नाट्य-गृह
पाठशाला और सार्वजनिक सभा-भवन हो। बुनियादी पाठ्यक्रम तक शिक्ष
अनिवार्य हो। जहाँ तक सम्भव हो, प्रत्येक काम सहकारिता के आधार पर किय
जाय।" सेवाग्राम यह सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहा था कि एक दिन सा
भारत में इस लक्ष्य की पूर्ति हो सकती है।

सेवाग्राम में नौकर थे ही नहीं। आर्यनायकम् की पुत्री मीटू और उसकं
सहेलियों ने हमारे लिए भोजन तैयार किया था। सोने से पहले मीटू से मेरं
बातें हुई। उसने सेवाग्राम महा-विद्यालय में शिक्षा पायी थी। अपनी अधिकां
सहेलियों के विपरीत वह अंग्रेज़ी जानती थी। उसने बताया कि आश्रम
प्रत्येक व्यक्ति को इस बात से आश्चर्य हुआ कि हम अपने साथ कोई नौकर नह
लाये थे और हम में से प्रत्येक के पास केवल एक-एक झोला था, जिसमें हमा
पहनने के कपड़े थे (हमें वहाँ सिर्फ़ दो दिन ठहरना था)। मुझे उनके आश्च
पर विस्मय हुआ।

मैंने उसे बताया कि अमरीका में बहुत ही कम लोगों के पास नौकर हैं औ
चूँकि हमारे पास नौकर नही हैं, इसलिए हम सिर्फ़ ज़रूरी सामान लेकर यात्र
करते है। हम अमरीकी हैं और मैं नहीं समझती कि यह बात या कोई अन
बात हमें यह अधिकार प्रदान करती है कि हम दिखावा करें। मैंने कहा f
अमरीकी होने के नाते हमें वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जैसा कि अमरीक
अपने देश में करते हैं; तब तक, जब तक कि हमारे इस व्यवहार और भारती
रिवाज़ में किसी तरह का संघर्ष न पैदा होता हो।

मीटू ने स्वीकार किया कि हमारे लिए नौकरों का साथ में लाना अस्वा

भाविक होता। उसने मुझे बताया कि प्राय: जब "विशिष्ट" व्यक्ति वहाँ आते हैं तो उनके साथ नौकर-चाकर तथा बहुत-सा सामान होता है। मैं सोचने लगी कि मीट्टू तथा आश्रम के अन्य लोगों को भी ऐसे लोगों के परावलम्बी और उलझन भरे रहन-सहन के प्रति वैसा ही खेद होता था या नहीं जैसा कि मुझे हुआ। हम ज़रा नीचे, तखतनुमा, मच्छरदानी लगे हुए और रज़ाई से ढँके हुए बिछौनों पर सोये। रात बड़ी सुहावनी थी।

सेवाग्राम को गांधीजी के आश्रम के लिए, उनके इस निश्चित आदेशों के अनुसार चुना गया था कि वह भारत के निर्धनतम भाग में निर्धनतम गाँव होना चाहिए। उनकी एक शर्त यह थी कि वहाँ तब तक बिजली नहीं होनी चाहिए, जब तक कि वह इतनी सस्ती न हो जाय कि निर्धनतम ग्रामीण भी उसे पा सके। जो लोग जाग रहे थे, वे मिट्टी के तेल की लालटेनों की मन्द रोशनी में अपना काम कर रहे थे।

सुबह के पहले प्रकाश में किसी ने धीमे से हमें जगाया। हम कपड़े पहन कर ६॥ बजे आश्रम के भोजन-गृह मे नाश्ता करने के लिए तैयार हो गये; किन्तु हम अपेक्षाकृत अधिक सोने वाले थे। बहुत जल्दी सोकर उठनेवालों में से कुछ लोग ४॥ बजे की प्रार्थना-सभा में हो आये थे। सारा आश्रम ५॥ बजे तक जग कर सबेरे के कामों में–खास तौर से नाश्ते की तैयारी में–लग चुका था।

भोजनकक्ष स्कूल और कालेज के विद्यार्थियों और उनके अध्यापकों से भर गया था, जिनमें सभी जाति और धर्म के लोग थे—जो कच्चे फ़र्श पर पंक्ति में बैठे हुए थे; हम भी बैठ गये और हमें ताँबे का एक-एक खाली गिलास दिया गया। तभी विद्यार्थियों के दल ने प्रवेश किया, जिनके हाथों में दलिया से भरी हुई एक बड़ी बालटी और गर्म दूध के बर्तन थे। जब सबको नाश्ता परोसा जा चुका, तब एक छोटी-सी प्रार्थना और स्तुति-गान हुआ।

जैसे ही किसी का खाना समाप्त होता, वह अपना गिलास और कटोरी लेकर बाहर चला जाता और राख से माँज-धो कर उन्हें साफ़ कर देता। फिर आश्रम के विद्यार्थी पूर्व-निर्धारित दलों में बँट कर रसोई के बर्तनों को साफ़ करने, फ़र्श बुहारने, कुएँ से पानी लाने जैसे छोटे-छोटे कामों में लग गये।

विद्यार्थियों का बाकी समय अपनी कक्षा में कृषि-कार्य पर बीतता था (प्रत्येक विद्यार्थी औसतन प्रतिदिन दो घण्टे कृषि-कार्य करता था)। फुरसत के

समय वे इच्छानुसार पढना, कपडे धोना, कातना आदि कोई भी काम कर सकते थे। कताई का काम सबसे ज्यादा लोकप्रिय था। यह काम लाभदायक होने के साथ-साथ आराम-देह भी था और चिन्तन तथा एकाग्रचित्तता के लिए अवसर देता था।

नाश्ते के पश्चात् जब धरती पर ओस अभी मौजूद ही थी, हम खेतों में गये और हमने तरकारियाँ, बाजरा, मक्का और कपास की उत्तम फसलें तथा केले, संतरे और पपीते के कुंज देखे। इनमें से अधिकांश फसलें इससे पूर्व इस क्षेत्र में गाँववालों ने कभी पैदा नहीं की थी। जब गांधीजी इस गांव में पहले-पहल आये, तब इस क्षेत्र में कपास और अरडी के अतिरिक्त शायद ही किसी चीज़ की खेती होती थी।

हमने कॉलेज के एक विद्यार्थी को एक कुएँ के चारों ओर खूब तगड़े बैलों की जोडी हाँकते हुए देखा। इस प्रकार वह रहँट की बाल्टियों की माला से साफ़ पानी निकाल रहा था। पानी निरंतर छोटी-छोटी नालियों में होकर टेढ़े-मेढ़े रास्तों से बगीचे में पहुँच रहा था, जहाँ अन्य विद्यार्थी काम कर रहे थे। कॉलेज के लड़के धूप में कृषि का काम करके अपने हाथ गन्दे कर रहे थे यह भारत मे नयी बात है; किन्तु यह काम सेवाग्राम के विद्यार्थी की शिक्षा का बहुत महत्वपूर्ण अंग है।

हम खेतो से लौटकर मुर्गीखाना और दुग्धालय देखने गये। ये दोनों गाँव के साधारण-से-साधारण मुर्गीखाने और गोशाला से ज़रा ही बढ़ कर थे; किन्तु थे खूब साफ़-सुथरे और हवादार। हर चीज बिलकुल सादी और ऐसी थी कि औसत गाँववाला उसे समझ सके। चूँकि मुर्गियाँ और मवेशी स्वस्थ थे और अच्छी खुराक पाते थे इसलिए यहाँ की मुर्गियाँ उतने अण्डे और गायें उतना दूध देती थीं, जितना कि गाँववाले पहले असम्भव मानते थे। छोटे-छोटे परिवर्तनों ने महान् सुधार कर दिये थे।

वहाँ से हम आश्रम के छोटे पुस्तकालय में गये। वहाँ का पुस्तकाध्यक्ष दक्षिण आफ्रीका से आया हुआ एक वृद्ध जर्मन था। पुस्तकालय में शायद कुछ सौ ही किताबें थी लेकिन वे कई भाषाओं और विषयो की थीं।

फिर हम पूर्व-बुनियादी शाला में गये जो सात साल के बच्चों के लिए थी। एक नौजवान शिक्षक ने उस छोटे-से स्कूल को हमें दिखाया। अधिकांश बच्चे

उस रुई को—जिसे उन्होंने उगाया और हाल में तोड़ा था—साफ़ करने, धुनने और कातने में लगे हुए थे। कुछ बच्चे गा-गा कर काम कर रहे थे। सभी प्रसन्न, समझदार और साफ़-सुथरे नज़र आते थे।

शिक्षक ने बताया कि अधिकांश बच्चे दिन के समय सेवाग्राम के गाँव से आते हैं। कपास उगाना सिर्फ़ हाथ का काम नहीं है। कपास उगाकर और चुन कर छोटे बच्चे सामान्य विज्ञान भी सीख जाते हैं, और उन्होंने कितना उगाया और कितना काम किया—इससे उन्हें गणित का भी बोध हो जाता है। विश्व में जिन स्थानों पर कपास पैदा होती है और उनकी अपनी उगायी हुई कपास कहाँ तक पहुँच सकती है, इस विषय पर चर्चा करके वे भूगोल सीख जाते हैं। और उन देशों की शासन-व्यवस्था तथा वहाँ के लोगो के बारे में जो बात होती है, उससे उन्हें सामाजिक ज्ञान हो जाता हैं।

यह है गांधीजी की बुनियादी शिक्षा का व्यावहारिक रूप—जो किसी क़दर अमरीका के उन सार्वजनिक स्कूलों में व्यवहृत "काम द्वारा शिक्षा" पद्धति से मिलता-जुलता है, जहाँ मैं पढ़ी थी। भारत मे जो स्कूल बन रहे हैं, उनमें से अधिकांश इस बुनियादी-शिक्षा के पाठ्यक्रम को अपना रहे हैं।

बाद को तीसरे पहर हमने उस क्षेत्र के अस्पताल का निरीक्षण किया जो आश्रम से मील-दो-मील की दूरी पर है। यह अस्पताल आश्रम के आसपास के लगभग ७५ गाँवो की सेवा करता है। ग्रामीण-चिकित्सा का अनुसधान-केन्द्र होने के अलावा यहाँ बुनियादी शिक्षा-विभाग के शिक्षार्थी अध्यापकों को भी प्रशिक्षण दिया जाता है ताकि उन गांवों मे, जिन मे किसी प्रकार की चिकित्सा सम्बन्धी सहायता उपलब्ध नही है, वे स्कूल के चिकित्सालय चला सकें।

सेवाग्राम से हम मोटर द्वारा वर्धा के अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ को देखने गये। इसे भी गांधीजी ने शुरू किया था। यहाँ भारत के अनेक भागों के कारीगरों को काग़ज़ बनाने, मिट्टी के बर्तन तैयार करने, साबुन बनाने, तेल निकालने और मधुमक्खी पालने की शिक्षा दी जाती है। ये सब काम पेचीदी मशीनों के बिना होते हैं।

अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ का भवन दर्शनार्थियों के लिए इसलिए खुला रहता है, कि ऐसे उद्योगो में रुचि बढ़े। इस सगठन को चलानेवाले लोगों का गांधीजी की तरह ही विश्वास है, कि यदि ग्रामीणजन सामान्य

ग्रामोद्योग का विकास करें तो जो वनस्पति-सामग्री इस समय बर्बाद हो जाती है, उसे उपयोग में लाया जा सकता है और जो किसान खेतों पर काम न होने के समय बेकार रहते हैं, उन्हें पूरे वर्ष काम और कमाई का एक नया ज़रिया मिल सकता है।

उस रात को प्रार्थना-सभा के कुछ देर बाद सोने से पहले, मैंने पहले से भी अधिक प्रबलता के साथ अपने चारों ओर शान्ति और प्रसन्नता का अनुभव किया। मैंने सोचा कि सेवाग्राम का यह सामुदायिक रहन-सहन, काम-काज, शिक्षा-दीक्षा और खेलकूद कितना शान्तिपूर्ण क्रान्तिकारी है। तब मेरी समझ में आया कि क्यों बहुतों के लिए सेवाग्राम भारत की भावी आशा का प्रतिनिधि और देश की महान् सामाजिक क्रान्ति का अग्रुआ है। अब मैं सेवाग्राम को सेवा के गाँव से अधिक मानने लगी थी। वह शान्ति और आशा का गाँव है।

गांधीजी ने एक बार कहा था—"जब हमारे गाँवों का पूरी तरह से विकास हो जायगा, तब उनमें ऊँचे दर्जे की बौद्धिक और कलात्मक प्रतिभावाले लोगों की कमी नहीं रहेगी। गाँव के कवि होंगे, गाँव के कलाकार होंगे, गाँव के भवन निर्माण-विशारद होंगे, भाषा-शास्त्री होंगे और अनुसंधान का काम करनेवाले लोग होंगे। संक्षेप में जीवन की कोई ऐसी वांछनीय चीज़ बाक़ी नही रहेगी जो गाँवों में नहीं होगी। आज भारत के गाँव गोबर के ढेर हैं। कल वे छोटे-छोटे नन्दनवन बनेंगे, जिन के निवासी प्रतिभावान होंगे; जिन्हें न कोई धोखा दे सकेगा, न जिनका कोई शोषण कर सकेगा।"

गांधीजी आशावादी थे, किन्तु बहुत ही व्यावहारिक भी। यदि "छोटे नन्दनवनों" वाले भारत का कभी उद्भव हुआ, तो सेवाग्राम के सामुदायिक जीवन और विकास का उदाहरण तथा वह नयी शिक्षा-पद्धति, जो सेवाग्राम के स्कूलों में चरितार्थ हो रही है, उसके निर्माण की दिशा में वे एक महत्वपूर्ण कदम माने जायँगे।

अगले दिन सुबह नाश्ता करने के बाद ही हमने अपने मित्रों से और सेवाग्राम से विदा ली। हमें आर्यनायकम् से बिछुड़ने का विशेष रूप से दुःख हो रहा था। हम महसूस कर रहे थे कि भारत के विकास के आगामी अत्यन्त

महत्वपूर्ण वर्षों में मार्गदर्शन के लिए वैसा ही विश्वास चाहिए जैसा आर्यनायकम् का था।

हम सेवाग्राम से नागपुर के लिए रवाना हुए, जहाँ हमें नयी दिल्ली के लिए वायुयान पकड़ना था। रास्ते में हम विनोबा भावे के छोटे-से आश्रम पर ठहरे। आश्रम तो अधिक प्रभावशाली नहीं था; किन्तु विनोबा जी का बहुत नाम था। उन्होंने स्वाधीनता-संग्राम में गांधीजी के साथ ही काम किया था और प्रधान मंत्री नेहरू को छोड़कर भारतीय जनता शायद उन्हें ही सब से अधिक जानती है।

सन् १९५१ में विनोबाजी ने भूदान-यज्ञ के नाम से एक आन्दोलन शुरू किया। विनोबाजी का विश्वास है, जैसा औरों का भी है कि भूमि-सुधार और भूमि का पुनर्वितरण नये राष्ट्र के रूप में भारत की उन्नति का बहुत महत्वपूर्ण अंग है। वे यह भी महसूस करते हैं कि चूंकि धारासभाओं में भूस्वामियों का प्रभाव है, इस वजह से इस मामले में सरकार बहुत धीमी गति से काम कर रही है।

अतएव एक गाँव से दूसरे गाँव, देश के एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त, की पैदल-यात्रा करके विनोबाजी उन लोगों से—जिनके पास भूमि है, यह माँग करते हैं कि वे अपनी कुछ भूमि उन्हें दें, जो भूमिहीन हैं। ज़मींदारों से विनोबाजी कहते हैं, "मैं तुम्हें प्यार से लूटने आया हूँ। भारत के बहुत-से लोग भूमिहीन हैं। यदि तुम में से किसी के पाँच पुत्र मौजूद हों तथा बाद में छठा पुत्र और हो जाय, तब तुम अपनी सम्पत्ति को पाँच के बजाय छः भागों में बाँटोगे। मैं भूमिहीनों की ओर से तुमसे छठा भाग माँग रहा हूँ। मुझे अपना छठा पुत्र समझो।"

इस सीधे-सादे अनुरोध का उल्लेखनीय परिणाम निकला है। आन्दोलन शुरू करने के बाद से अब तक विनोबा जी को ४० लाख एकड़ से अधिक भूमि प्राप्त हो चुकी है, जिसे जल्दी से जल्दी भूमिहीन किसानों में बाँटा जा रहा है।

दूसरे दिन स्कूल में मैंने सोचा कि सुमन और दिल्ली पब्लिक स्कूल के मेरे अन्य मित्र यदि देश के इस विकास-काल में उसकी अधिक-से-अधिक सेवा

करना चाहते थे, तो रेखागणित और अंग्रेज़ी साहित्य का अध्ययन उनके किस काम का था। जिस प्रकार की शिक्षा उन्हें मिल रही थी, उसे पूरी करके ग्रेजुएट हो जाने पर वे या तो किसी आफ़िस में सफ़ेदपोशोंवाली नौकरी कर लेंगे या ऐसी नौकरियों की तलाश में मारे-मारे फिरने वाले बेकारों में शामिल हो जायेंगे।

सेवाग्राम में मुझे एहसास हुआ कि भारत के नौजवान स्त्री-पुरुषों की वास्तविक आवश्यकता गाँवों में है। दिल्ली पब्लिक स्कूल की शिक्षा से हल चलाने, जन-स्वास्थ्य का काम करने या गाँव में साक्षरता के प्रचार की योग्यता प्रदान करने की कोई व्यवस्था नहीं है। मेरे शान-शौकत वाले शहरी-मित्र बुनियादी तालीम के द्वारा कुछ-के-कुछ हो जाते।

जब मैंने अपने ये विचार सुमन को बताये, तो उसने मुझे थोड़ा झिड़का। उसने कहा, "तुम समझती नहीं हो; यदि मैं चाहूँ भी, और एक-दो बार मैंने चाहा भी था, फिर भी सेवाग्राम जाकर उच्च बुनियादी कालेज में शिक्षा प्राप्त करके, किसी छोटे-से गाँव में जा बसना कोई आसान बात नहीं होगी। सोचो कि मेरे माता-पिता क्या कहेंगे? वे कभी ऐसा नहीं करने देंगे। यदि मैं उनकी आज्ञा न मानकर भाग जाऊँ, तो उनका दिल टूट जायगा और यह सोचकर उन्हें बड़ी पीड़ा होगी कि उनकी उस लड़की ने, जिसे उन्होंने इतने लाड़-प्यार और सावधानी से पाला-पोसा, अपने माता-पिता का अनादर करके किस बुरी तरह से उनकी आज्ञा की अवहेलना की। साथ ही मेरे लिए भी रेशमी साड़ियों, जेवरों, लिपस्टिक और सिनेमा आदि के सुख का त्याग करना कठिन होगा। ये चीजें मेरे जीवन का अंग बन चुकी हैं।"

मैंने अनुभव किया कि सुमन के उत्तर में एक तरह का औचित्य था। जाति-बन्धन, शारीरिक श्रम के प्रति हीनता के भाव, अपनी ही जाति में और लायक होने से पहले ही विवाह करने का रिवाज आदि बातें दृढ़ता से उसके तथा उसके जैसे अन्य लोगों के जीवन में घर कर चुकी थीं।

सुमन के साथ इस प्रश्न पर चर्चा करते समय मुझे ग्राम्य-कार्यकर्त्ताओं के एक प्रशिक्षण-केन्द्र का ध्यान हो आया, जिसे हमने भारत आने के तुरन्त बाद ही देखा था। (अब सारे देश में ऐसे चालीस से अधिक केन्द्र हैं।) सेवाग्राम की तरह, इस प्रशिक्षण-केन्द्र में कार्यकर्त्ताओं को ग्रामीणों के जितना सम्भव

हो सके उतना निकट आने, अपने को ग्रामीण ही समझने और गाँववालों के रीति-रिवाजों, परम्पराओं और रहन-सहन को सीखने और मान देने के लिए प्रोत्साहित किया जाता था।

मैंने सुमन को उस स्थिति में रखकर कल्पना करने का प्रयत्न किया। उसका काम होगा कि वह किसान की पत्नी का विश्वास प्राप्त करे और इसमें सफल होने का एकमात्र उपाय यही होगा कि वह अपने उन्नत तरीकों का उनके सामने प्रदर्शन करे। उसे गाँव की महिलाओं के साथ-साथ काम करना होगा।

इसका अर्थ सिर्फ़ अपने "साधारण सुखों" का पूर्णतया त्याग ही नहीं होगा, बल्कि उसे तपती धूप में काम करना होगा और अपने हाथों को गन्दा करना होगा। लेकिन सदियों से उसकी श्रेणी के लोग इस प्रकार के काम को निकृष्ट और अपनी प्रतिष्ठा के प्रतिकूल मानते आये हैं। नहीं; यदि सुमन चाहे भी, तो भी उसके माता-पिता उसे गाँव में काम करने की आज्ञा नहीं देंगे; और मैंने महसूस किया कि ऐसी ही मनोवृत्ति भारत के बहुत-से माता-पिताओं की थी, खास तौर से उन लोगों की जो शहरों में रहते थे। तथापि मैंने यह भी अनुभव किया कि ऐसे लोगों की संख्या दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही थी, जो अपने पुत्र और पुत्रियों को जाति-पाँति और रीति-रिवाज़ की सीमा को तोड़ने की अनुमति देते हैं। उनमें से बहुत-से लोग गांधीजी और गांधीवादी सिद्धान्तों से प्रभावित हुए हैं। बहुत-से लोग उन नौजवानों की इस बढ़ती हुई माँग से प्रेरित हुए हैं कि वे जाति पाँति के परम्परागत बन्धनों और संयुक्त परिवार की पद्धति से मुक्त होना चाहते हैं और भारत सरकार ने जाति-पाँति के खिलाफ़ जो कठोर रुख अपनाया है और जाति-पाँति के आधार पर नौकरियाँ देने पर जो रोक लगायी है, निस्सन्देह, उसका भी बहुत-से भारतीयों पर असर हुआ है।

तथापि बहुत-से भारतीय ग्रेजुएट, अपने पूर्वजों के पुराने भारत और पंचवर्षीय योजना के इस नये भारत के बीच त्रिशंकु बने हुए हैं। कालेज से ग्रेजुएट होकर निकलने में उन पर असुरक्षा की भावना इस ख़याल से छाई रहती है कि वे न तो पुरानों के साथ हैं, न नयों के। ऐसे बहुत-से निराश लोगों के लिए कम्युनिज़्म का मार्ग अपनाना सरल होता है। प्रसन्नता की

बात है कि उनमें से अधिकांश की आँखें जल्द ही खुल जाती हैं और वे उससे सम्बन्ध विच्छेद कर लेते हैं।

सुमन की नानी और माँ ने गाँव में काम करने की बात कभी सपने में भी न सोची होगी। सुमन ने यह बात सोची। शायद उस का बच्चा गाँवों में काम कर सकेगा और तब अगर उसका विरोध होगा भी तो बहुत मामूली।

मेरा विश्वास है कि वह दिन दूर नहीं, जब ६००,००० गाँवों को—दूरवर्ती निर्धनता-ग्रस्त मिट्टी के घरौंदे नहीं, बल्कि शहरों के निकटतम पड़ोसी और भारतीय जीवन का सबसे महत्वपूर्ण केन्द्र माना जायगा।

सात

समस्यापूर्ण बच्चे

कुछ ही महीने बीतने पाये थे कि मै दिल्ली के पब्लिक स्कूल के अपने जीवन के प्रति असन्तोष का अनुभव करने लगी; उस समय तक मैं नयी दिल्ली के अलावा भारत के अन्य भागों को भी देख चुकी थी और जान गयी थी कि दिल्ली की चौड़ी-चौड़ी, वृक्ष लगी सड़कें और बड़े-बड़े आलीशान मकान किसी भारतीय नगर के तो कम प्रतीत होते थे, योरोपीय नगर के अधिक।

मैं नया और डगमगाते हुए प्रजातंत्र का देश—नेपाल देख चुकी थी और अनोखा, शान्तिमय सेवाग्राम भी। मेरा ख़याल है कि वास्तव में मुझमें असन्तोष वहीं जागा। मैं बहुत-से भारतीयों और नेपालियों से तथा उनकी समस्याओं से परिचित हो चुकी थी। मैंने अन्य लोगों के कष्टों को देखा था, जिन्हें मैं जानती नहीं थी और मैं चाहती हूँ कि उन्हें कष्ट नहीं भोगना चाहिए।

मुझे लगा कि करने को काम बहुत है; लेकिन उसे मन से करनेवालों की कमी है। इसलिए मैंने निश्चय किया कि जो मुझसे हो सकता है, मैं करूँगी। यद्यपि मैं जानती थी कि मैं पन्द्रह साल की लड़की जितना कुछ भी करूँगी, कम ही होगा।

ग्रामर स्कूल के दिनों से ही मेरी रुचि नर्सिंग के काम में थी। इसलिए एक

अंग्रेज़ महिला के ज़रिए, जिसे मेरी माँ जानती थीं और जो दिल्ली के अस्पतालों में काम कर चुकी थीं, मुझे १९५२ में मार्च के प्रारम्भ में इरविन अस्पताल के बच्चों के वार्ड में स्वेच्छा से काम करने का अवसर मिल गया। इरविन अस्पताल उन अस्पतालों में है जिन्हें दिल्ली सरकार से सहायता मिलती है।

पहले दिन वार्ड की संरक्षिका नर्स ने मेरे लिए एक आज्ञा-पत्र लिख दिया; किन्तु मुझे उसे काम में लाने की कभी जरूरत ही नहीं पडी। मैं जब जी चाहे आती थी, जब जी चाहे चली जाती थी। पहले तो मार्च और अप्रैल में जब स्कूल की पढाई चल रही थी, मैं ४।। से ७ बजे तक या अक्सर उसके बाद भी ८-८।। बजे तक काम करती थी। चूंकि वह काम मुझे प्यारा था; इसलिए मैं ज़्यादातर घर लौटती थी, इस कारण कि घर जाना ज़रूरी था, इस कारण नहीं कि घर जाने की इच्छा होती थी। मई में जब स्कूल गर्मियों के लिए बन्द हो गया, मैं दोपहर के बाद तमाम दिन, कभी-कभी ७ बजे तक काम करने लगी। मैं रोज काम पर जाती थी और बिलकुल थक कर घर लौटती थी; फिर भी मैं बड़ी प्रसन्न रहती थी। बच्चों में घुल-मिल कर मैं अपनी छोटी-मोटी समस्याएँ भूल जाती थी।

वह वार्ड अस्पताल के काफ़ी बड़े भाग में था। उसके एक ओर एक सिरे से दूसरे सिरे तक खुला हुआ बरामदा था, जिसकी वजह से कमरे में काफ़ी रोशनी और हवा आती थी। वार्ड में दोनों ओर दो क़तारों में लगभग ४० पलंग थे। कभी-कभी रोगियों की संख्या पलंगों से बढ जाती थी। एक बार तो कम गम्भीर रोगियों के लिए १५ अतिरिक्त बिछौने फ़र्श पर ही लगाने पड़े थे। मुझे खुशी थी कि अस्पताल के नियम इतने कठोर नहीं थे कि अतिरिक्त रोगियों को भरती करने से मना कर दिया जाता।

मेरा वार्ड असंक्रामक रोगों से पीड़ित बच्चों के लिए था, जिनमें से अधिकांश को चीर-फाड़ की जरूरत होती थी। वैसे तो किसी बच्चे के टॉन्सिल्स बढ़े होते थे, कोई जल गया होता था, किसी की हड्डी बेतरह टूटी होती थी और किसी को कोई स्पर्श-रोग होता था। कई सड़क की दुर्घटनाओं के शिकार होते थे। एक छोटी लड़की जो मुझे बड़ी प्यारी थी, दृष्टिहीनता के एक नये-से रोग से पीड़ित थी जिसका इलाज हो सकता था। उसकी दशा के सुधार को मैं बडी उत्सकता से देखती रही। अन्धता ने उसके जीवन में सनापन भर

दिया था; इसलिए दूसरे बच्चों को देखने के लिए वार्ड का चक्कर लगाते वक्त मैं रोजाना उसे उसके बिस्तर से उठाकर अपने साथ ले जाती थी।

चिकित्सा के अलावा जो ध्यान मै बच्चों की ओर देती थी उसके लिए वे लालायित रहते थे। अस्पताल में नर्सें बहुत कम थीं और जिस प्रकार का काम मैं कर सकती थी, वह बहुधा नही हो पाता था।

चीरफाड के लिए बच्चों को बेहोशी की दवा दिये जाने की हालत को छोड़कर मै उन्हें पानी पिलाया करती थी; जिसकी गर्मी के दिनों में बहुत ही माँग रहती थी। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, उन बच्चों ने मुझे काफ़ी हिन्दुस्तानी सिखा दी और इस प्रकार मैं उन बच्चो के पास बैठ कर बातें करने लगी जो बाते कर सकते थे। कभी-कभी नर्सें किसी बच्चे को पेनिसिलिन का इजेक्शन देते समय उसे सम्हालने मे मेरी सहायता लेती; या किसी के पट्टी बांधते समय मुझे उसे बहलाने का काम देती। कभी मैं उनके खाने के वक्त भी मौजूद होती थी; तब जो बच्चे खुद खा नही सकते थे, मैं उन्हें भोजन कराने में हाथ बँटाती।

किन्तु, खिलौनों की अलमारी से मेरा जो सम्बन्ध था, वह बच्चों को सब से ज्यादा अच्छा लगता था। अधिकारी नर्स ने मुझे एक बड़ी-सी चाबी दे रखी थी। यह चाबी बरामदे की उस अलमारी की थी जो—गेंदो, गुड़ियों, मोटरों, ढोलों और पहेलियों जैसे अनेक खिलौनो व रंगीन पेन्सिलों, रगों, चित्रों की कापियों, कहानी की किताबों आदि से भरी हुई थी।

ढोलों ने बड़ी समस्या पैदा कर रखी थी। ये ढोल नये-नये, चमकदार और बड़े आकर्षक थे। इस कारण सब खिलौनो में उनकी माँग सब से ज्यादा रहती थी। ढोल थे सिर्फ़ तीन और हर एक के लिए बच्चे आपस में छीना-झपटी करते रहते थे। सबसे ज्यादा मुश्किल थी उनके शोर के कारण। मैंने समझ लिया कि छोटे-छोटे बच्चों से ढोलों को धीरे बजाने के लिए कहना बेकार था। इसलिए एक दिन वे ढोल रहस्यपूर्ण ढंग से वार्ड से छूमन्तर हो गये।

प्रतिदिन वार्ड में आते ही मैं पहले वह बड़ी चाबी लेने जाया करती थी और पांच-छः बच्चे जो चल-फिर सकते थे मुझे घेर लिया करते थे। मुझे उनकी नमस्ते और उनका शोर मचाकर यह कहना कि "बहनजी आयी हैं; बहनजी

आयी है !" बड़ा अच्छा लगता था। वे इसका पूरा खयाल रखते थे कि मैं रोज़ाना आते ही सबसे पहले खिलौनों की अलमारी खोलूँ।

मैं प्रत्येक शैयाग्रस्त बच्चे के लिए एक-एक खिलौना ले जाती थी; उनसे 'नमस्ते' करती थी और ज़रा देर उनसे बातें करती थी। कभी-कभी कोई बच्चा कहानी सुनने की इच्छा प्रकट करता था। तब मैं यह इन्तजाम करके कि सभी बच्चों के पास कोई-न-कोई खिलौना पहुँच गया है, वापस उसके पलग के पास आकर उसे तथा उसके पास जमा हो जानेवाले बच्चों को कहानी पढ़ कर सुनाया करती थी।

अधिकांश बच्चे सिर्फ हिन्दुस्तानी जानते थे। शुरू के कुछ हफ्तों में मैं उनसे ज़्यादा नहीं बोल पाती थी; किन्तु मैं हिन्दी पढ लेती थी। मैंने देवनागरी वर्णमाला स्कूल में सीखी थी और यद्यपि जो कुछ मैं पढती थी उसे हमेशा ही नहीं समझ पाती थी। लेकिन बच्चे तो उसे समझ ही लेते थे और मेरे पढने में उन्हें आनन्द आता था। उनकी पसन्द की एक कहानी थी 'लाल मुर्गी' जिससे बहुत-से अमरीकी बच्चे भी परिचित हैं।

किन्तु, दिन-प्रति-दिन हिन्दुस्तानी का मेरा शब्द-ज्ञान बढता गया। रोज़ाना बातचीत के दौरान में मैं दो या तीन शब्द ऐसे चुन लेती थी जो मुझे नहीं आते थे ताकि घर आकर मैं शकूर से उनका अर्थ पूछ सकूँ। जब मैंने अस्पताल छोड़ा उस समय मेरी हिन्दुस्तानी बच्चों जैसी थी; क्रिया की ग़लतियों और गंवारू प्रयोगों से भरपूर, किन्तु वह मेरे और बच्चों के बीच पुल का काम देती थी और यही सब से महत्त्व की बात थी।

मुझे भाषा की गडबड़ी की एक बात अच्छी तरह याद है। एक दस साल के बच्चे के पैर की हड्डी टूट गयी थी, इसलिए वह पलंग से हिलडुल भी नहीं सकता था। वह हमेशा चाहता था कि मैं उसके पास बैठूँ, बातें करूँ और कभी-कभी उसके साथ खेलूँ। एक दिन बादल छाये हुए थे और मौसम बड़ा उदास था। मैंने उसे कुछ रंग और चित्रकारी की एक किताब लाकर दी।

"बरूश है ?" उसने मुझसे पूछा।

"नहीं", मैंने कहा—"बारिश नहीं हो रही है; लेकिन किसी भी क्षण हो सकती है।"

वह बोला—"नहीं बहन जी, बरूश, बरूश; आपके पास बरूश है ?" और

तब मेरी समझ में आया कि वह अंग्रेज़ी में मुझसे 'ब्रश' माँग रहा था, जो मैं अलमारी में छोड़ आयी थी और उसे देना भूल गयी थी !

वह बड़े दुःख का समय होता था, जब मैं वहाँ से रवाना होती थी और मुझे बच्चों से खिलौने ले लेने पड़ते थे। वह समय प्रायः मुलाक़ातियों के आने के ठीक पहले पड़ता था। बच्चे जानते थे कि उनके माता-पिता जल्दी ही आने-वाले होंगे; इसलिए इस बात से ही मैं उन्हें बहलाती थी। अधिकांश माता-पिता और मित्र, जो मुलाक़ात के समय आते थे, गरीब होते थे और अस्पताल के इलाज के पैसे देना उनके बूते के बाहर होता था। परन्तु वे बच्चों को प्यार करते थे और उनके लिए मिठाई, फल-फूल और तरह-तरह के छोटे-छोटे खिलौने लाया करते थे। बहुत-से माता-पिता अस्पताल से दूर रहते थे और निस्सन्देह उनके यहाँ और बच्चे भी होते ही होंगे। फिर भी हर रोज़ लगभग सभी बच्चों से कोई-न-कोई तो मिलने आता ही था।

अधिकांश बच्चे कम-से-कम एक सप्ताह अस्पताल में रहते थे। एक-दो दिन में मैं नये आये हुए बच्चे का नाम जान जाती थी और बच्चा यह जान जाता था कि मैं बहनजी हूँ, जो रोज़ाना बच्चों की मदद करने और उनके साथ खेलने आती हैं। फिर हम अच्छे-खासे दोस्त बन जाते थे और यदि किसी बच्चे का आपरेशन होने को होता, तो उसे विश्वास होता था कि जब वह आपरेशन के बाद वार्ड में लौटेगा तो मैं, उसकी मित्र, उसे वहीं मौजूद मिलूंगी।

चलने-फिरने लायक़ बच्चे तो शरारत का घर ही होते थे। मुझे उन्हें शान्त और प्रसन्न रखने से ही फ़ुर्सत नहीं मिलती थी। जो बच्चे एक हफ़्ते से ज्यादा अस्पताल में रहते थे, उनसे मुझे सचमुच ममता हो जाती थी और यद्यपि उनके स्थान पर हमेशा दूसरे बच्चे आते रहते थे; फिर भी जो कोई बच्चा घर चला जाता था, मुझे उसकी याद आया करती थी।

वार्ड में जो थोड़ी-सी नर्सें थीं, वे प्रायः व्यस्त रहती थीं और हर पन्द्रहवें दिन बदल जाया करती थीं, इसलिए उनमें से किसी से भी मेरी अच्छी तरह जान-पहचान नहीं हो सकी। मुझे ऐसा लगा कि वे नर्सें तो हो गयी थीं, किन्तु समाज-सेवा की भावना से नहीं, बल्कि जबतक उनकी शादी नहीं हो जाती, तब तक के लिए भरण-पोषण करने के उद्देश्य से। उनमें से सभी बच्चों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण नहीं थीं। लगभग सभी नर्सों और बहुत-से डाक्टरों की शिक्षा

रामचन्द । यह मजेदार बारह साल का लड़का गर्मियों में कम-से-कम एक महीने अस्पताल में रहा था। तीन महीने बाद वह फिर अस्पताल आया था। सब बच्चों में सब से ज्यादा समय तक उसे जानने का मुझे मौक़ा मिला। दूसरे बच्चे आते और चले जाते थे लेकिन वह बना ही रहता था। वह सभी अर्दलियों, डाक्टरों और नर्सों को पहचानता था और लँगड़ाते-लँगड़ाते वार्ड में घूमकर सभी बच्चों से परिचित हो गया था। वह शरारती था लेकिन दुष्ट नहीं।

मेरे अस्पताल छोड़ने से पहले के सप्ताह में उसका आपरेशन हुआ और जब मैं तीसरे पहर अस्पताल आयी, वह चुपचाप बीमारी की हालत में पलंग पर लेटा हुआ था। उसके पैर पर भारी प्लास्टर चढ़ा हुआ था। वह मुझे देखकर मुस्कराया और उसने मुझ से ज़रा देर अपने पास बैठने और बातें करने के लिए कहा। जब मैं हमेशा के लिए अस्पताल से विदा हुई उस समय भी वह शैयाग्रस्त था। गंभीर, वीर और एकाकी ! उसके माता-पिता दिल्ली के बाहर एक छोटे-से गाँव में रहते थे और कभी-कभी ही उससे मिलने और उसे देखने आ पाते थे।

कालेज में दो महीने पढ़ने के बाद, मैं एक महीने के लिए अस्पताल वापस आयी। बच्चों का वार्ड नयी इमारत में चला गया था। वह वार्ड ज्यादा हवादार और ख़ुशनुमा था। दीवारों पर सुन्दर रंग किये हुए थे, रोशनी सौम्य किन्तु चमकदार थी; और प्रत्येक बच्चे के लिए एक छोटी अलमारी थी, जिसमें वह अपनी चीज़ें रख सकता था।

वह वार्ड सड़क के नज़दीक था और खोन्चे वाले अक्सर बरामदे के नीचे तक आ जाते थे, जहाँ बच्चे उन्हें देख सकते थे। तब से मेरे लिए एक काम और बढ़ गया। बच्चे मुझे एक-दो आने देकर नीचे से अपने लिए चीज़ें ख़रीद लाने के लिए कहते। प्रायः वे खाने की ही चीजें होती थीं—जैसे आलू या फल। कभी-कभी गुब्बारेवाला आ जाता था और तब हर छोटा बच्चा गुब्बारा मँगाता था।

मैंने तमाम वसन्त और गर्मी में जुलाई के अन्त तक यानी कालेज जाते समय तक तथा उसके बाद छुट्टियों के महीने अक्तूबर में अस्पताल में काम किया।

मैं हर रोज़ दोपहर में अस्पताल जाने का समय होने की प्रतीक्षा किया करती थी। वह समय मेरे लिए दिन का सबसे महत्वपूर्ण समय होता था; जब मैं अपने को भूल कर दूसरों के लिए चिन्ता और विचार कर सकती थी, अस्पताल के ऐसे साधारण लोगों के लिए—जिनकी समस्याएँ मेरी सभी समस्याओं से कहीं ज्यादा बढ़-चढ़ कर थीं।

आठ

राह पर

मैं प्रतिदिन बाइसिकल पर अस्पताल आती-जाती थी। रास्ता चार मील से कुछ ज्यादा था। बरसात में या देर हो जाने पर मैं यह रास्ता आध घंटे से भी कम वक़्त में तय कर लेती थी। किन्तु सामान्यतया इससे ज्यादा वक्त लगता था—अक्सर पैंतालिस मिनट; क्योंकि लगभग और लोगों की तरह मुझे जल्दी नहीं होती थी।

वसन्त और गर्मी के महीनों में जब तापमान अक्सर ११५ डिग्री तक पहुँचता था, मैं दोपहर के भोजन के बाद ही अस्पताल के लिए रवाना हो जाती थी। दोपहर की धूप और गर्मी में मेरे बाहर जाने को मेरे कुछ मित्र मेरी मूर्खता समझते थे। इसके विपरीत मैं यह कभी नहीं समझ सकी कि कोई घर की चहार-दीवारी में क़ैद रह कर कैसे चैन पा सकता है? यदि मैंने गर्मी के दिनों में अपना काम जारी न रखा होता तो, उनकी तरह मेरा दिमाग़ भी निरन्तर गर्मी और उसके कारण अपनी परेशानी में ही पड़ा रहता।

खुली हवा में मज़े-मज़े बाइसिकल चलाने में मुझे किसी कदर ताज़गी मिलती थी और मैं इसी निर्णय पर पहुँचती कि काम में लगे हुए व्यक्ति को अपनी असुविधा की ओर ध्यान देने का मौक़ा मुश्किल से ही मिलता है। जब तक मैं व्यस्त रहती थी तब तक दिल्ली की गर्मी से मुझे कोई परेशानी नहीं होती थी।

घर से निकलकर मैं वृक्षों की कतारोंवाली सँकड़ी रैटेन्डन रोड पकड़ती

थी। मेरे दायें ओर अनेक फ्लैटोंवाली नयी दुमंज़िली इमारतों की एक बस्ती पड़ती थी। मेरे बायें ओर सड़क पर उच्च श्रेणी के बड़े इक-मंज़िले घर थे।

रैटेन्डन रोड के आख़िरी सिरे पर एक दयालु बूढ़ा व्यक्ति, जिसकी दाढ़ी बर्फ़ जैसी सफ़ेद थी, खुले में दुकान लगाकर फल बेचा करता था—ख़रबूज़े, तरबूज़, सेव, स्वादिष्ट लीचियाँ, आम, केले अथवा सीताफल; जैसा भी मौसम होता। नज़दीक ही दो छोटे लड़के बाइसिकल ठीक करने का सामान सड़क के एक ओर, पेड़ के नीचे फैला कर बैठते थे। जब मैं उधर से निकलती, वे हमेशा वहाँ मौजूद मिलते थे—कभी सोते हुए तो कभी खेलते हुए और कभी-कभी कोई बाइसिकल सुधारते हुए।

रैटेन्डन रोड के अन्त में मैं बायीं ओरवाली छोटी गली में मुड़ जाती थी, जो चौड़ी-सी सड़क—पृथ्वीराज रोड पर जाकर ख़त्म होती थी। पृथ्वीराज रोड के किनारे-किनारे सीमेण्ट के प्लास्टर की बनी नीची इमारतें थीं, जहाँ भारत सरकार के कार्यालय थे। दफ़्तर बन्द होने के समय उस पर बाइसिकलों की वैसी ही भरमार रहती थी जैसी कि कनेक्टीकट में गर्मियों में रविवार को तीसरे पहर रूट १ पर मोटरों की रहती है।

पृथ्वीराज रोड एडवर्ड अष्टम के पुतले को केन्द्र बनाकर गोलाकार घेरा बनाती हैं। मैं घेरे का चक्कर काटती हुई हार्डिंज रोड पर आ जाती थी, जो थोड़ी दूर जाकर मथुरा रोड से मिलती है। मथुरा रोड पुरानी और नयी दिल्ली के बीच की बड़ी सड़क है। वहाँ से अस्पताल लगभग दो मील रह जाता था। गर्मियों की ऐन दोपहर की तपन में ये सड़कें लगभग निर्जन होती थीं। किन्तु शाम को जब मैं घर लौटती तब वहाँ बड़ी चहल-पहल रहती थी। कुछ लोग पैदल होते थे, सैकड़ों साइकिलों पर चलते थे, दर्जनों घोड़ों के ताँगे होते थे, क़रीब के गाँव से आयी हुई बैलगाड़ियाँ होती थीं, कभी-कभी धीरे-धीरे चलनेवाले ऊँट की गाड़ी भी मिल जाती थी और इनके अलावा कुछ लारियाँ, बसें और मोटरें होती थीं। बाइसिकलों की संख्या इतनी अधिक रहती थी कि हमें मोटरों के ड्राइवरों की तरह हाथ से सिगनल देने पड़ते थे।

जब मैं अपनी बाइसिकल पर होती, तब मुझमें एक प्रकार की आज़ादी और उमंग की भावना आ जाती थी। घर आते वक़्त मथुरा रोड पर एक

ढाल पड़ता था और सभी बाइसिकलवाले इस पर पूरी रफ्तार से नीचे उतरते थे। बच्चों की तरह हम तेज़ी से एक दूसरे से और धीरे-धीरे चलनेवाली गाड़ियों से आगे निकल जाते थे। उस समय हमें उन कारों का ज़रा भी ध्यान नहीं रहता था जो हमसे भी आगे निकलती थीं।

जब मैं १९५१ में शुरू-शुरू में मथुरा रोड की ओर गयी थी, तब उसके दोनों तरफ़ बहुत-सी खुली जगह पड़ी थी। १९५३ में जब मैं रवाना हुई तब सब जगह इमारतें बन रही थीं। मथुरा रोड के पुरानी दिल्ली वाले सिरे पर दाहिनी तरफ़ एक बहुत बड़ा स्टेडियम है, जहाँ क्रिकेट और हाकी के मैच होते हैं; बायीं ओर जेल की तरफ़ से जब मैं गुज़रती तो अक्सर मुझे कैदियों के झुण्ड सड़क पर जाते हुए मिलते थे, जिनके पैरों में बेड़ियाँ पड़ी होती थीं और वे कुदाली और फावड़े लिए हुए होते थे। दो या तीन खाकी वर्दीधारी पुलिसमैन उनकी निगरानी के लिए साथ रहते थे।

जैन धर्मशाला और स्टेडियम से आगे चल कर एक बहुत बड़ा चौराहा पड़ता है, जहाँ मथुरा रोड दिल्लीगेट होकर पुरानी दिल्ली में चली जाती है। बायीं ओर अस्पताल है, जो सर्क्यूलर रोड पर लगभग चौथाई मील तक फैला हुआ है।

मैं अस्पताल के अहाते में साइकिल रखने के स्थान पर अपनी बाइसिकल खड़ी कर देती थी। साइकिलों की निगरानी रखनेवाले दोनों व्यक्ति जल्दी ही मेरे अच्छे खासे दोस्त हो गये। उनमें से एक बहुत ही शर्मीला किन्तु देखने-सुनने में बड़ा अच्छा था। वह सिर्फ़ हिन्दुस्तानी बोल सकता था और मैं अस्पताल में जो काम करती थी उसमें उसकी बहुत दिलचस्पी थी। हम दोनों, अपने काम के बारे में और कभी-कभी अमरीका के बारे में, बातें किया करते थे।

दूसरे आदमी ने, जो बड़ी उम्र का था—मेरी हिन्दुस्तानी सुधारने का जिम्मा लिया। उसकी अपनी भाषा हिन्दुस्तानी और अंग्रेज़ी की अजीब खिचड़ी थी। बातचीत में जब वह किसी ऐसे शब्द पर अटक जाता जिसकी कि अंग्रेज़ी उसे नहीं आती थी, तब उस शब्द को वह हिन्दुस्तानी में ही बोल देता था। वह मुझे बेबी कहता था।

मैं इन लोगों को दो आने रोज दिया करती थी जैसा कि वहाँ साइकिल

रखनेवाला हर शख्स किया करता था। अक्सर मैं पैसे लाना भूल भी जाती थी। तब वह बड़ी उम्रवाला व्यक्ति मुस्करा कर कहता—"परेशान होने की कोई बात नहीं है, बेबी ! कल दे देना।" साइकिल के पंक्चर दुरुस्त करवाने के लिए मैंने कई बार उससे उधार पैसे लिये थे।

ट्यूब में पंक्चर होकर हवा निकल जाना मेरे लिए लगभग रोज़ की बात थी; खास तौर से गर्मियों में जब सडक के गरम-गरम तारकोल और सीमेण्ट से रबड कमजोर पड जाता था। मैं मई के महीने तक किराये की साइकिल पर जाया क़रती थी और मुझे हमेशा यह दिक़्क़त उठानी पडती थी। पहिये की हवा निकलती रहती थी और जंजीर अक्सर उतर जाती थी। दिन के समय तो साइकिल ठीक करनेवाला नज़दीक ही मिल जाता था; क्योंकि पूरी सडक पर आधे-आधे मील पर उनकी छोटी-छोटी दुकानें थी, किन्तु रात को भाग्य कम ही साथ देता था।

जब किसी खास जगह पर धंधा मंद हो जाता तो बाइसिकल ठीक करने-वाला अपना सामान समेट कर दुकान वहाँ से बढ़ा देता था। जहाँ कहीं भी उसे अच्छी जगह मिल जाती, वही वह सड़क के किनारे किसी छायादार पेड़ के नीचे अपना सामान फैलाकर फिर बैठ जाता था। उस दिन के लिए वहीं उसकी दुकान बन जाती थी।

इन बाइसिकल मरम्मत करनेवालों में से अधिकांश मुझे साधारण साइकिल चलानेवालों की श्रेणी का ही मानते थे और ऐसी अमरीकी नहीं, जिससे कि ज़्यादा पैसे वसूल किये जा सकते थे। प्रत्येक पंक्चर ठीक करने के दो आने लगते थे और हवा भरने का आधा आना या मुफ़्त। हमारे घर के नजदीक का साइकिलवाला मेरे टायरों को ठीक कर दिया करता था; भले ही मेरे पास पैसे हों या न हों. क्योंकि वह जानता था कि एक-दो दिन बाद जब भी मैं उधर से गुज़रूँगी, उसके पैसे चुका दूंगी।

एक दिन अस्पताल जाते समय रास्ते में एक मामूली टक्कर हो जाने से मेरी साइकिल का अगला पहिया बुरी तरह टेढा हो गया। मैं उसे सबसे नज़-दीक की साइकिल की दुकान पर ले गयी और साइकिलवाले से मैंने कहा कि मेरे पास देने को अभी पूरे पैसे नहीं हैं, किन्तु जो भी रक़म होगी वह मैं दूसरे दिन आकर चुका दूंगी। यद्यपि ठीक करने में उसे कोई बीस मिनट मेहनत

करनी पड़ी, फिर भी उसने मुझसे कहा कि पैसों के लिए चिन्ता मत करो। अगले दिन जब मैं उसे पैसे देने पहुँची तो उसका कहीं पता न था।

मैंने पहियों की हवा निकल जाने की वास्तव में कभी पर्वाह नहीं की; सिवाय इसके कि उनपर खर्च होता था। किन्तु साइकिल चलाने के सम्बन्ध में एक बात ऐसी थी, जो मुझे बुरी तरह खलती थी और जिसके कारण कभी-कभी मुझे घर से निकलने में भय भी लगता था। २० जून को मैंने इस बात से उकता कर अपनी डायरी में लिखा, "मित्रतापूर्ण, मित्रतापूर्ण भारत! किन्तु मैं घूरनेवालों से तंग आ गयी हूँ।"

अपनी ओर घूरती हुई आँखों की मैं कभी अभ्यस्त नहीं हो सकी। ज्यों-ज्यों महीने गुज़रते गये, त्यों-त्यों लोगों का घूरना कम होता गया; क्योंकि लोग मुझे देखने के आदी हो गये थे और वह वक्त भी आ गया, जब वह बाइसिकल की मरम्मत करनेवाला, फल बेचनेवाला बूढ़ा, पुलिसवाले, रोज़मर्रा दिखनेवाले दूसरे लोग, मेरे गुजरने पर शायद ही कभी निगाह उठाकर मुझे देखते थे। किन्तु सैकड़ों पैदल चलनेवालों तथा बाइसिकल पर चढ़नेवाले दूसरे लोगों के लिए एक लड़की का, खास तौर से एक ऐसी विदेशी लड़की का, जो भारतीय पोशाक में हो, दिखाई देना विचित्र बात थी और वे मुझे ऊपर से नीचे तक देखते थे।

आज तो दिल्ली की सड़कों पर दस साल पहले की अपेक्षा कहीं ज्यादा युवतियाँ नज़र आती हैं। किन्तु साइकिल चलानेवाली लड़कियाँ अब भी बहुत नहीं दीखतीं और अंधेरा पड़ने के बाद तो मुश्किल से ही दिखाई देती हैं। मुझे विश्वास है कि बहुत-से लोग मुझे दुश्चरित्र समझते होंगे। मुझे याद है कि एक घृणित-सी दीखनेवाली औरत ने, जब मैं उसके पास से निकली, तब मेरी साइकिल के आगे थूक दिया था।

शायद यह भी एक कारण है कि भारत में नर्स के धंधे को, पूरी तरह से, अब भी आदर की दृष्टि से नहीं देखा जाता। नर्सें, विशेषतया जन-स्वास्थ्य से सम्बन्धित नर्सें, अक्सर अकेली ही साइकिलों से लोगों के घर जाती हैं और रास्ते पर चलनेवालों की वे फ़ब्तियों का शिकार बनती हैं। यह देखकर बहुत-से पुराने विचार के लोगों की यह धारणा है कि आमतौर से नर्सें दुश्चरित्र होती हैं। इसलिए अगर नर्सिंग की

अपेक्षा ज्यादातर महिलाएँ डाक्टरी का पेशा अपनाती हैं; क्योंकि इस पेशे की इज्जत है, तो इसमें क्या ताज्जुब !

फिर भी साइकिल चलाने की अच्छाइयाँ, उस घूरनेवाली बुराई से— जिसे मैं बेहद नापसन्द करती थी, कहीं बढ़कर थीं। सबसे बढ़कर तो वह आज़ादी की भावना थी कि चाहे जहाँ जाना हो मुझे यह आसरा देखने की ज़रूरत नहीं थी कि कोई मुझे वहाँ ले जाये। बाइसिकल अपनी थी, दिन का वक़्त अपना था। मैं अपनी मर्ज़ी के मुताबिक आ-जा सकती थी।

साथ ही, जब कभी मैं साइकिल पर सवार होकर जाती थी, मैं अपने को भारतीय सड़कों के मन्दगामी जीवन का एक अंग महसूस करती थी; न कि उससे पृथक्, जैसा कि मुझे कार में बैठकर लगता था। मैं सब प्रकार के लोगों, वस्तुओं और घटनाओं को देखती थी। उस गर्मी में जिस समय पहिला पानी पड़ा, मैं अस्पताल से घर लौट रही थी। जब तक घर पहुँचूँ-पहुँचूँ तब तक मैं बुरी तरह भीग गयी थी। वह भीगना कितना अच्छा लगा था। कई महीनों के बाद पहिली बार बरसात हुई थी। मैं तथा हर चीज़ तपन से परेशान हो चुकी थी। यह बात अजीब चाहे लगती हो किन्तु उस दिन बरसात से बचने के लिए भाग-दौड़ बहुत ही कम साइकिल-वालों ने की।

एक दिन, जिस समय मैं मथुरा रोड होकर अस्पताल से घर लौट रही थी, मैंने पीछे से किसी के पुकारने की आवाज़ सुनी, "बहन जी!" मैं रुक गयी और एक सुन्दर-सी ग्रामीण युवती घेरदार लहँगा पहने मेरे पास आकर पूछने लगी कि मैं कहाँ जा रही हूँ। उसने बताया कि वह बहुत थक गयी है। फिर उसने मुझसे पूछा कि क्या मैं उसे कुछ दूर तक पहुँचा दूँगी? मैंने मंज़ूर कर लिया और जो सड़क बायीं तरफ़ मुड़कर उसके गाँव को जाती थी, वहाँ उसे छोड़ दिया। फिर भी उसे एक या दो मील रास्ता तय करना बाकी था।

अस्पताल में मेरे काम शुरू करने के कुछ दिनों बाद ही. अप्रैल के आरम्भ में दिल्ली में रामनवमी मनायी गयी। दिल्ली दरवाज़े और स्टेडियम के निकट मथुरा रोड पर एक बहुत बड़ा मेला लगा। उस दिन अस्पताल जाते हुए मैंने देखा कि आसपास के गाँवों से बैलगाड़ियों के पीछे बैलगाड़ियाँ चली आ

रही थीं। हर गाड़ी हँसते और गाते हुए ग्रामीणजनों से भरी हुई थी। औरतें खूब चमकीले केसरिया, लाल और पीले रंग की साड़ियाँ पहने हुए थीं, जिसे खींच कर उन्होंने अपने सिर ढँक लिये थे। मर्द कुछ गम्भीर ढंग के सफ़ेद कपड़े पहने हुए थे।

सड़क के किनारे छोटी-छोटी, जल्दी में तैयार की गयीं, किन्तु खूब सजी-धजी दुकानें लगी हुई थीं, जिनमें मिठाई, फल, आइस्क्रीम और चाट आने-जानेवालों का मन ललचाने के लिए खूब आकर्षक ढंग से रखी हुई थी। बहुत-सी दुकानों पर खिलौनों और देवी-देवताओं की मिट्टी की बनी रंगीन मूर्तियों के ढेर लगे हुए थे। खोन्चेवाले, मेले की भीड़ में आवाज़ें लगा-लगा कर अपना सामान बेच रहे थे।

एक लाउड स्पीकर पर नवीनतम लोकप्रिय गाने बज रहे थे, जिसके मुक़ाबिले में चक्करदार झूले का संगीत फीका पड़ रहा था। बच्चे नंगे पैर दुकानों के बीच इधर-उधर एक-दूसरे का पीछा कर रहे थे या चुपचाप खड़े भुट्टे चबा रहे थे या शान्ति से अपने बड़े भाई-बहनों के साथ हिंडोले में बैठे हुए थे।

आख़िर में जब मैं अस्पताल पहुँची तब मैंने बच्चों से मेले का जिक्र किया। वे अपने वार्ड से लाउड स्पीकर की आवाज़ सुन रहे थे। अगर वे बीमार न होते तो जो आनन्द वे मेले में लेते, उसकी बातें उन्होंने बड़ी लालसा से कीं।

अक्सर अस्पताल आते-जाते मैं आँधी में फँस जाया करती थी। मई और जून के खुश्क और गर्म दिनों में ये आँधियाँ प्रायः आया करती थीं और जिस तेज़ी से आती थीं उसी तेज़ी से निकल जाती थी। किन्तु जितनी देर आँधी चलती थी उतनी देर वह कोई मामूली चीज़ नहीं होती थी। साधारणतया आँधी के साथ इतनी तेज़ हवा चलती थी कि मेरे लिए साइकिल चलाना बहुत कठिन हो जाता था। ज्यादातर मैं हार मानकर उतर जाया करती थी; किन्तु कभी-कभी सिर्फ़ आनन्द लेने के लिए जिद पर चढ़ जाया करती थी और मुंह चुन्नी से ढँक कर साइकिल चलाये जाती थी।

एक-दो मामलों में मेरी चुन्नी मेरे लिए परेशानी का कारण भी बनी। प्रायः मैं उसे इस प्रकार ओढ़ती थी कि वह मेरी पीठ पर दोनों तरफ़ लटकती रहती थी। मुझे यह खयाल ही नहीं आया कि वह इतनी लम्बी भी होती है

कि कभी साइकिल के पहिये में फँस जाय। एक दिन यही हुआ। न जाने कैसे वह ज़ंजीर के पुर्ज़े में फँसती चली गयी। मुझे पता था कि किसी लड़की का आम रास्ते पर बग़ैर चुन्नी के निकलना बहुत ही अनुचित माना जाता है। इसलिए बड़ी घबड़ाहट से मैं साइकिल को उठाकर सड़क के एक किनारे ले गयी और अपनी चुन्नी को जो तेल से तर हो गयी थी और बुरी तरह फट गयी थी, ज़ंजीर से छुड़ाने की कोशिश करने लगी। मैं उस नौजवान की बहुत कृतज्ञ हूँ जिसने आकर चुन्नी को छुड़ाया।

इस बात से मुझे हमेशा विस्मय होता था कि एक बाइसिकल आखिर कितना ज्यादा बोझा ढो सकती थी। कई परिवारों में सवारी का एकमात्र साधन पिता की साइकिल होती थी। रविवार को या और किसी छुट्टी के दिन बीसियों साइकिलें ज़्यादा-से-ज़्यादा सवारियों से लदी हुई निकलती थीं। पिता सीट पर बैठता, हैण्डिल में टँगी हुई टोकरी में एक छोटा बच्चा होता, माँ पीछे कैरियर पर और एक बच्चा उसकी गोद में होता। एक बार मैंने एक ही साइकिल पर माता-पिता और तीन बच्चों को बैठे हुए देखा। तीसरा बच्चा सीट के आगेवाले डंडे पर बैठा था।

गाँवों से आनेवाले दूधवाले दूध के बड़े-बड़े दो हण्डे साइकिल पर लादकर लाते थे। फल और सब्ज़ी बेचनेवाले, साइकिल के दोनों ओर भारी-भारी टोकरियाँ लटकाकर लाते थे। मोढ़े बेचनेवालों के चेहरे मुश्किल से ही दिखाई देते थे। उनकी साइकिलों पर ये मोढ़े विचित्र ढंग से एक के ऊपर एक इस तरह रखे होते थे कि फेरीवाले उनके पीछे क़रीब-क़रीब छिप जाते थे। ज़रा सावधानी के साथ तो लोग अपनी चारपाई भी साइकिल के पीछे बाँध कर ले जाते थे।

यद्यपि मैं रोज़ाना अस्पताल आती और जाती थी फिर भी साइकिल की सवारी से मेरा मन कभी नहीं ऊबा। हमेशा नयी-नयी चीज़े देखने को मिलती थीं; नये-नये लोगों से मिलना होता था और नयी-नयी बातें सीखने को मिलती थीं। इस शौक की मुझे एक ही क़ीमत चुकानी पड़ती थी और वह थी लोगों का मुझे घूरना, जिससे मुझे बहुत परेशानी होती थी।

नौ

दिल्ली में सप्ताहान्त

जब मैं स्कूल में थी तब वहाँ दिल्ली के सप्ताहान्त के बारे मे लगभग उसी प्रकार की भावना थी जैसी अमरीका में। सोम, मंगल, बुध, गुरुवार और शुक्रवार व्यस्तता के दिन होते थे। बच्चे स्कूल जाते, पुरुष अपने काम पर; दुकानें खुली रहतीं और उनपर खूब चहल-पहल रहती। बाजारों में भीड-भाड और शोरगुल रहता और उद्यान शाम के समय को छोड़ कर निर्जन रहते।

शनिवार आता और चहल-पहल घट जाती। बच्चे घर पर रहते। अधिकांश लोग सिर्फ सबेरे काम पर जाते। बहुत-सी दुकानें तीसरे पहर बन्द हो जातीं और ठंडक होते ही उद्यान लोगों से भर जाते। रविवार के दिन सब काम-काज बन्द हो जाता। सारा परिवार मिल कर बैठता। पिकनिकें होतीं, लोग मिलने-जुलने जाते, पार्टियाँ करते या दोपहर को किसी उद्यान में नीम के बडे-से वृक्ष के तले छाया में बैठ कर या चारपाई पर सो कर बिताते। बाजार में अक्सर चहल-पहल रहती। शुक्रवार मुसलमानों के लिए अवकाश और इबादत का दिन होता है, किन्तु अधिकांश नगर में उसके प्रति रविवार जैसी भावना रहती।

यद्यपि मैं अस्पताल में प्रतिदिन काम करती थी; शनिवार और रविवार को भी उसी तरह जिस तरह कि सप्ताह के और दिन। फिर भी सप्ताहान्त मेरे लिए भी कुछ और तरह का होता था। शनिवार को सुबह मैं अपने घर के निकट के एक दवाखाने में काम करती थी।

यह दवाखाना दिल्ली के अमरीकी महिला-क्लब की सहायता से भारतीय महिलाओं के एक दल द्वारा चलाया जाता था। नयी दिल्ली और पुरानी दिल्ली में ऐसे और भी दवाखाने थे। नगर के अन्य चिकित्सालयों को, जो अधिकतर प्रसूतिगृह और बाल-कल्याण-केन्द्र थे, सरकार चलाती थी। जिस दवाखाने में मैं काम करती थी, वहाँ आनेवालों में प्रमुख रूप से महिलाएँ

और बच्चे होते थे, जो अधिकांश पड़ोस में ही रहते थे।

वहाँ एक डाक्टर था, दो महिलाएँ थीं, जो नुस्खों के मुताबिक दवाइयाँ देती थीं और दो औरतें परिचर्या-कक्ष में काम करती थीं। ये सब स्वयंसेवक और स्वयंसेविकाएँ थीं। दवाइयाँ क्लब ख़रीद कर देता था और बच्चों के लिए दूध का चूर्ण यू. एन. आई. सी. ई. एफ़. से भेंट के रूप में मिलता था।

जब कोई रोगी पहली बार दवाख़ाने में आता तब उससे दो आने लिये जाते थे, बीमारी उसे चाहे कुछ भी हो। इससे दवाखाने के ख़र्च में कुछ मदद तो मिलती ही थी, लेकिन मेरे ख़याल से इसके अलावा दुअन्नी देने से रोगी के मन में यह भाव उत्पन्न नहीं होता था कि उसे दवा यूंही थमा दी गयी है। उल्टे इससे उसके मन में यह भाव जगता था कि उससे आशा की जाती थी कि वह अपनी तन्दुरुस्ती को अपनी ख़ुद की जिम्मेवारी के रूप में स्वीकार करे।

डाक्टर उस छोटी-सी इमारत के बरामदे में मेज़ लगा कर बैठता था। रोगी पहले उसके पास आकर अपनी शिकायत बताता। डाक्टर निदान करके लिखता था कि रोगी को किस दवा या चिकित्सा की ज़रूरत है और उसे उस दिन फिर आने को कहता जिस दिन दवाख़ाना खुलता था; क्योंकि दवाखाना हफ़्ते में तीन दिन खुलता था।

यदि रोगी को दवा की ज़रूरत होती थी, तो वह डाक्टर के पास से, उस खिड़की पर जाता था, जहाँ दवा दी जाती थी। यहाँ वह स्वयंसेविका को अपना नुस्खा और एक शीशी सौंप देता था। शीशी में उसे दवा मिल जाती थी और साथ ही दवा के उपयोग की विधि उसे अच्छी तरह समझा दी जाती थी। अगर उसे कोई घाव, फोड़ा, किसी प्रकार का पकाव या गले की सूजन, आँख की पीड़ा या जलने की शिकायत होती तो वह दवा की खिड़की से परिचर्या-कक्ष में जाता था, जहाँ उसकी चिकित्सा की जाती थी।

मुझे परिचर्या-कक्ष में काम करने में आनन्द आता था, जहाँ मैं रोगियों से जान-पहचान कर सकती थी, उनकी वास्तविक देखभाल कर सकती थी और रोग-निवारण में उनकी सहायता कर सकती थी। कुछ ही समय में मैं आँखों में दवा डालने, गले में दवा लगाने और पट्टी बाँधने में कुशल हो गयी।

फिर भी गले में दवा लगाने का काम मुझे रुचिकर नहीं था। शुरू-शुरू में

एक बार मुझे जब यह काम करना पड़ा, तब मैंने फुरेरी पर रुई काफ़ी कस कर नहीं लपेटी थी। नतीजा यह हुआ कि रुई और दवा दोनों ही बेचारी बच्ची के पेट जा पहुँचीं। मैं बुरी तरह घबड़ा गयी और मुझे उस नन्हीं लड़की के लिए अफ़सोस हुआ। उसका गला बन्द हो गया और उसने तुरन्त एक गिलास पानी पीना भी स्वीकार कर लिया। खुशी की बात थी कि वहाँ के लोग सहानुभूति-पूर्ण थे और वह लड़की जल्दी ही ठीक हो गयी। किन्तु मुझे विश्वास था कि पेट की किसी गम्भीर खराबी की शिकायत लेकर वह कुछ ही दिनों में फिर आयेगी। सौभाग्य से वह वापस आयी नहीं।

प्रायः मैं औषध-विभाग में काम करती थी, जहाँ मैं शीघ्र ही गोलियों के डिब्बों और शीशियों से—जो खानों में पक्तिवद्ध रखी रहती थीं तथा तरल दवा की उन बड़ी बोतलों से, जो हमारे काम करने की मेज़ के अधिकांश भाग को घेरे रहती थीं—परिचित हो गयी। एक दवा हम अक्सर दिया करते थे, वह लाल रंग की पिपरमिन्ट जैसी थी, जिसका नाम डाक्टर ने गुप्त रूप से 'मनोवैज्ञानिक' दवा रख छोड़ा था।

उस छोटे-से दवाखाने में हम साधारणतया एक वक़्त में कम-से-कम ५० रोगियों की परिचर्या करते थे। अक्सर यह संख्या अधिक रहती थी। यह दवाखाना अस्पताल से इस दृष्टि से भिन्न था कि मैं चिकित्सा के मामले में रोगी की सीधी मदद कर सकती थी। मेरे ख़याल में शनिवार की सुबह बिताने का यह बहुत ही आनन्ददायक तरीक़ा था।

शनिवार को तीसरे पहर में सदा की भाँति अस्पताल में काम करती थी। परन्तु दवाख़ाने और अस्पताल जाने के बीच में इतना समय रहता था कि मैं अपने मित्रों के साथ भोजन कर सकती थी या बाद में सैर-सपाटे, सिनेमा देखने या शाम को किसी मित्र के घर जा सकती थी। फिर भी अक्सर मैं वह वक़्त घर पर ही; पढ़ने-लिखने या घर के कामों में बिताती थी।

मेरा कमरा छोटा था और घर के उस भाग में था, जिधर सड़क थी। मैं प्रायः मेज़ पर खुली खिड़की के सामने बैठती थी, जहाँ रैंटेन्डन रोड तथा दूर-वर्ती सड़कों की आवाज़ें सुनाई देती थीं—जो मेरे काम के लिए पृष्ठभूमि तैयार करती थीं। तांगे की घण्टियों की मधुर टन-टन, बैलगाड़ी की नियमित चरंमर्र, उधर से गुज़रनेवाले धुनियों के कमान की टंकार, छोटे बच्चों की चुहलभरी

बातें, एक आदमी का दूसरे आदमी को चीख कर पुकारना, गुज़रते हुए साइकिल-वालों के गीत या सीटी, सँपेरे की बीन का करुण-स्वर, हारमोनिका के आह्लाद-दायक स्वर, चिड़ियों की चहचहाहट, कुत्तों का भौंकना और रात के वक़्त हमारे घर के पीछे के उद्यान में गीदड़ों की डरावनी आवाज़े तथा दूसरे प्रकार की बहुतेरी आवाज़ सुनाई देती थी, जिन्हें मैं पहचानती थी और जो मुझे बहुत प्रिय थीं।

रविवार का दिन बहुत व्यस्तता का होता था। सबेरे तडके हम कभी-कभी पक्षियों के निरीक्षण को निकल जाते थे, तो दोपहर के या अपराह्न के भोजन के लिए हम पिकनिक पर जाते थे; और तीसरे पहर भी कुछ-न-कुछ होता ही था। एक बार खेलकूद हुए, कभी चुनाव की मीटिंग हुई, तो कभी सिनेमा देखा। दिल्ली-प्रवास के शुरू के महीने दर्शनीय स्थानों को देखने में बीते थे।

चूँकि मुझे अपने देश में ही तरह-तरह की चिड़ियों को पहचानने का शौक़ था, इसलिए दिल्ली मे पक्षियों के निरीक्षण के अभियानों में मुझे बड़ा मज़ा आता था। हम एक दल बनाकर जाया करते थे, जिसमें दिल्ली में रहनेवाले कई अंग्रेज, अमरीकी और भारतीय शामिल रहते थे। हम प्रायः नगर से बाहर तालाब या नदी के निकट किसी निर्जन स्थान पर जाते थे या फिर जगल मे।

पहिले रविवार को हम जमुना नदी के किनारे एक सुरम्य स्थान पर गये, जो लम्बे-लम्बे गन्नों के खेत के समीप था। वक़्त तड़के का था। आसमान साफ़ था, हरियाली खूब थी। वहाँ अनेक पक्षी थे—जल और थल दोनो के। हमने वहाँ आमतौर से मिलनेवाले पक्षी देखे—जैसे मैना, बड़ा-सा काला बदशक्ल कौव्वा, ऊँची उड़नेवाली धूर्त और नीच मनोवृत्ति की चील। इनके अलावा लम्बी पूँछ का भूरे और सफ़ेद रंगवाला नीलकण्ठ, मटियाले रंग का घमण्डी तीतर, बुलबुल की जाति के अनेक पक्षी, श्याम श्वेत दहगल, अनेक रंगोंवाली चिड़िया, काले सिर और पीले रंग का सुन्दर हरदुआ, चटकीले नीले और नारंगी रंग की रामचिरैया, कलगीवाला हुदहुद और शोर करनेवाले सुग्गे।

एक और दिन हम पुल से जमुना नदी पार करके उस स्थान पर गये, जो नगर की दूसरी दिशा में था। पुल पर यातायात ठप हो गया था। स्टेब और मुझे पुल पार करने की बारी आने की प्रतीक्षा में आधा घण्टा ठहरना पड़ा। इस दर्मियान हम यह देखते रहे कि भारतीय सड़कों पर चलनेवाली असंख्य

सवारियाँ इस अस्तव्यस्तता से कैसे बच कर निकलती हैं। वहाँ पैदल चलनेवाले लोग, सैकड़ों साइकिलें, घोड़ों के तांगे, बैलगाडियाँ, हाथ के ठेले—जिनमें अक्सर कोयला लदा होता था, मोटरें, लारियाँ जिनमे कुछ खाली थीं, जो दिल्ली से पंजाब जा रही थी और कुछ माल से लदी हुई दिल्ली आ रही थी; बसें, भेड़ों के रेवड़, भैंसें, बकरियाँ और मवेशी, यहाँ तक कि ऊँटों की कतार भी थी, जो देश के इस भाग में यदा-कदा ही दिखाई देती थी।

पुल के नीचे, नदी के तट पर, धोबी शहरवालों के कपडे धो रहे थे। नदी के किनारे की घास—तुरन्त के धोये हुए कपड़ों से जो धूप में सूख रहे थे, ढँकी हुई थी।

धोबी का काम मशक्कत का और थका देने वाला होता है। हर धोबी का एक-एक सँकरा पत्थर का पाट था जो आधा पानी में डूबा हुआ था। उस पर वह कपड़े पछाड़ता था। धोने वाले वस्त्र को सिर से भी ऊँचा उठा कर वह बार-बार पत्थर पर पटकता था।

उस दिन पक्षियों का निरीक्षण मुझे उतना रोचक नहीं लगा, जितनी की जमुना पुलवाली धक्का-पेल; क्योंकि चिड़ियों के बारे में मुझे उस दिन की एक भी चीज़ याद नहीं है।

अक्सर दोपहर या तीसरे पहर के भोजन के लिए मेरा परिवार या मेरे मित्र पिकनिक पर जाते थे। ठीक हमारे मकान के पीछे ही लोदी पार्क था, जो पिकनिक के लिए सबसे नजदीक जगह थी और हम अक्सर वहाँ जाया करते थे। मुझे वहाँ की ठंडक, छायादार हरियाली और शांति पसन्द थी। पार्क के दरवाजे दिन और रात खुले रहते थे और लगभग हमेशा ही वहाँ लोग बने रहते थे। कहीं परिवार सैर करते होते, तो कही पिता अपने पुत्र-पुत्रियों के साथ खेलते दिखाई देते; औरतें घास पर बैठी बातें करती रहतीं तो विद्यार्थी पढते या विश्राम करते रहते। कोई श्रमिक मध्याह्न की निद्रा ले रहा होता, बच्चे खेलते होते।

मुझे एक रविवार की याद है जब हम साइकिल से हौज कौज़ गये थे, जो लोदी पार्क जैसा ही पिकनिक का एक और स्थान था और शहर से बाहर चार-पाँच मील दूर था। यह स्थान बड़ा रमणीक था—दूब और छाया से भरपूर! रविवार के सैर-सपाटे के लिए आये हुए लोगों से भरा हुआ। बड़े परिवार—दादियाँ, दादा, माएँ, पिता, चाचियाँ, चाचा और अनेक बच्चे—पेड़ो की छाया

में बिछाये हुए कम्बलों पर बठे थे। बड़े लड़के वालीबाल खेल रहे थे। विद्यार्थियों के दल बैठ कर गपशप कर रहे थे या रेडियो बजा रहे थे। कोई अपना हारमोनियम लाया था और एक व्यक्ति अपना सितार। वहाँ का वातावरण प्रसन्नता और मस्ती का था।

रात के समय हौज़ कौज़ और भी ज्यादा खूबसूरत लगता था। कभी-कभी रविवार की रात को हम वहाँ पिकनिक करते थे। उस समय वह स्थान बिलकुल शान्त निर्जन होता था, जिसे श्वेत चाँदनी आलोकित करती थी।

लगभग हर रविवार की अपराह्न को ऐसी बात हो जाती थी जिससे मैं अस्पताल जाने के पहले या बाद में बहुत व्यस्त हो जाती थी। एक दिन हमने भारतीय टीम और जापान की टीम का हॉकी मैच देखा। भारतीय टीम बहुत अच्छी थी और बड़ी फुर्ती तथा कौशल से खेलती थी। हम चिल्ला-चिल्ला कर उसे बढ़ावा देते रहे और वह जीती भी।

एक दिन मैं गर्ल गाइड के समारोह में सम्मिलित हुई, जो मिस क्रो के सम्मान में मनाया गया था। मिस क्रो अमरीका की थी और 'स्काउट वर्ल्ड फेलोशिप' की ओर से विश्व के कई भागों का दौरा कर रही थी। मैंने अपनी नीली 'मैरिनर' की वर्दी पहनी थी। भारतीय लड़कियाँ भारत के स्काउटों की वर्दी में थीं—सफ़ेद सलवार, क़मीज़ और नीला दुपट्टा।

१९५२ की जनवरी में भारत में प्रथम राष्ट्रीय चुनाव हुए। दिल्ली में जुलूस और सार्वजनिक सभाएँ रोज़मर्रा की बातें हो गयीं और इश्तिहार तथा पोस्टरों द्वारा विभिन्न दलों और उम्मीदवारों का प्रचार जोरों-शोरों से हुआ। महीने के मध्य में एक रविवार को स्टेब और मैं पुरानी दिल्ली में कांग्रेस दल की ओर से आयोजित चुनाव-सभा में गये। जब हम वहाँ पहुँचे तब तक नेहरूजी, जो भाषण करनेवाले थे, आये नहीं थे। पार्क में हज़ारों लोगों की भीड़ जमा थी जिसमें स्त्री-पुरुष, बच्चे सभी थे। खोन्चेवाले खाने की बढ़िया-बढ़िया चीज़ें बेच रहे थे। हम भी भीड़ में मिल कर मंच के जितना भी सम्भव हो सका उतना निकट पहुँच गये।

प्रत्याशित समय के लगभग ही नेहरूजी की मोटर आ पहुँची। भीड़ में एक लहर दौड़ गयी। परन्तु तालियों की गड़गड़ाहट या खुशी के ज़ोरदार नारे नहीं लगे। लोगों ने एक महान् व्यक्ति के आगमन का केवल मूकभाव से सम्मान

किया। नेहरूजी हिन्दुस्तानी में बोले; धीरे-धीरे और बिलकुल स्पष्ट। दुर्भाग्य से, उस समय तक हम उस भाषा को इतना नहीं सीख पाये थे कि जो उन्होंने कहा, वह सब समझ लेते।

चूँकि मैं नेहरूजी के भाषण को समझ नहीं पा रही थी, इसलिए भीड़ के लोगों ने और भीड़ के व्यवहार ने मुझे ज्यादा आकर्षित किया। जो व्यक्ति जमा थे वे विभिन्न सामाजिक और आर्थिक वर्गों, विभिन्न धर्मों और सच पूछा जाय तो विभिन्न जातियों के थे।

नेहरूजी या पंडितजी के प्रति जैसा कि आमतौर से लोग उन्हें पुकारते हैं, उन सबकी समान-भावना ने उन्हें एक कर दिया था। मैंने अनुभव किया कि नगर की जनता जाति-पाँति को अधिक महत्व नहीं देती।

दवाख़ाने और अस्पताल के काम, सैर-सपाटे, खेल-कूद के मैच, मित्रों से मिलना-जुलना—व्यस्तता के इतने सामान होते हुए भी दिल्ली में खाली बैठ कर सप्ताहान्त बिताना मेरे लिए बहुत मुश्किल था। स्कूल के दिनों में मै जरूर इन दो दिनों की उसी उत्कण्ठा से प्रतीक्षा करती थी जैसी आज ओबर्लिन कालेज में करती हूँ।

दस

गाँव में एक सप्ताह

नर्सिंग के प्रति मेरी दिलचस्पी ने मुझमें यह जानने की उत्सुकता जाग्रत कर दी कि गाँवों में नर्सिंग और जन-स्वास्थ्य का कैसा कार्य होता है। इसी उत्सुकता के कारण मैंने नर्सिंग कालेज से दरियाफ़्त किया कि क्या मैं लगभग एक सप्ताह चावला गाँव में, जो दिल्ली से २० मील पश्चिम की ओर है, जाकर कार्य कर सकती हूँ? मैंने सुन रखा था कि कालेज की छात्राएँ इस गाँव में रहकर काम करती हैं। स्वीकृति मिल जाने पर मुझे बड़ी खुशी हुई।

जून की गर्मी में एक दिन मध्याह्न के भोजन के समय जब मैं चावला पहुँची, तब तक नर्सें गाँव के घरों का दैनिक निरीक्षण करके लौटी नहीं थीं।

कुमारी क्रेग ने, जो कालेज से मेरी सहेली थी, घूम-फिर कर मुझे नर्सों के रहने के अहाते को दिखाया। गाँव के सिरे पर एक या दो कमरेवाले छोटे-छोटे चार पूर्व-निर्मित मकान बने हुए थे—जिसमें से एक पकाने, खाने और मनोरंजन के लिए, एक कर्मचारियों के लिए और दो छात्राओं के लिए।

उस समय गाँव में आठ नर्सें थीं—छः छात्राएँ, एक ग्रेजुएट जो गाँव के आहार-तत्व सम्बन्धी शोधकार्य कर रही थी; और एक युवती सुपरवाइज़र। गाँव का स्वास्थ्य सम्बन्धी यह कार्य छात्राओं के नर्सिंग के प्रशिक्षण का ही एक भाग था।

उनमें से अधिकांश उत्तर भारत से आयी थीं—पंजाब, दिल्ली, उत्तर प्रदेश या बिहार से और दो बंगाल से और एक लंका से। इन लड़कियों के साथ, जो भारत के विभिन्न भागों की प्रतिनिधि थीं, एक प्रकार का वैसा ही नया और उपयोगी अनुभव हुआ, जैसा कि गाँव में रहने और काम करने का हुआ था।

लड़कियों के गाँव से लौटने पर हमने दही की लस्सी पी। यह पेय बड़ा अच्छा, शीतल और सस्ता होता है। मुझे मालूम हुआ कि गाँववाले यह पेय बहुत पीते हैं। थोड़ी देर बाद हमने भारतीय ढंग से भोजन किया—चावल, चपाती और साग। लड़कियों ने अपनी उँगलियों से बड़ी होशियारी से उसी ढंग से भोजन किया, जो मैंने सुमन के यहाँ और सेवाग्राम में सीखा था।

भोजन के बाद चार बजे तक, यानी जब गर्मी ज्यादा-से-ज्यादा थी, लड़कियों ने आराम किया या वे सोयीं जैसा कि भारत में गर्मी के दिनों में अधिकतर लोग करते हैं। तीसरे पहर के बाद हमने चाय और दूध लिया और तब से अँधेरा पड़ने तक लड़कियों ने गाँव में काम किया या अहाते में ठहर कर स्वास्थ्य-सम्बन्धी पोस्टर तैयार किये अथवा रिपोर्ट लिखी।

चावला में अपने आवास के पहिले दिन मैं तीसरे पहर के बाद दो छात्राओं के साथ गाँव में गयी। गाँव के लोग नर्स को पहिचानते थे और जब हम लोग उधर से गुज़रे तब उन्होने बड़े प्रेम से नमस्ते की और बहुतो ने हमें थोड़ी देर बैठने और बातचीत करने के लिए आमंत्रित किया।

सब से पहले हम जिस बच्चे को देखने गये उसे बुखार था और उसकी हालत अजीब थी। वह बच्ची सिर्फ़ चार दिन की थी और जैसा कि प्रायः

होता है कि लड़की होने के नाते अनचहेती भी थी। रिवाज के अनुसार उसकी शादी के समय उसके पिता को दहेज जुटाना पड़ता। वैसे ही पैसे की उसके पास कमी थी। बच्ची को न तो उचित खुराक मिल रही थी, न उसकी उचित देख-भाल हो रही थी। नर्सों ने उसे स्नान कराया और थोड़ा-सा पानी पिलाया; इससे ज़्यादा वे कुछ कर नहीं सकती थीं। उन्होंने उसकी माँ से उसकी ठीक देख-रेख करने और उसे अधिक बार दूध पिलाने के लिए समझाया। बच्ची बीमार थी और कमज़ोर भी। सम्भावना यह थी कि अगर माँ ने नर्सों की सलाह के अनुसार आचरण न किया तो वह मर जायगी।

दूसरा मामला एक छोटे लड़के का था जिसे मोतीझरा हो गया था। भारत में यह बीमारी आम है, जो प्रायः भोजन, पानी और दूध के दूषित होने से होती है। गाँव में एक और व्यक्ति इस रोग से पीड़ित था।

वह लड़का एक छोटे-से घर की अन्धेरी कोठरी में एक चारपाई पर सो रहा था। उसकी छोटी बहन उसके पास बैठी पंखा झल रही थी। नर्सों की देख-रेख में उसकी अच्छी देखभाल हो रही थी और उसे अच्छी दवाई व चिकित्सा मिल रही थी। अन्यथा नर्सों के आने से पहले गाँव में जैसे और कई लोग मर गये, वैसे ही वह भी शायद मर गया होता।

मैं सोचने लगी कि इस प्रकार की छुआछूत की बीमारीवाले रोगियों को सबसे अलग कैसे रखा जाता है? मुझे मालूम हुआ कि अनेक हिन्दुओं का आज भी ऐसा विश्वास है कि इस प्रकार की खतरनाक बीमारियाँ—खास तौर से चेचक, देवी के कोप के कारण होती हैं। बहुत-से मामले में यह खयाल किया जाता है कि रोगी को भूत-पिशाच लगा हुआ है, और लोग प्रायः उसके नजदीक आने से कतराते हैं।

इन रोगियों को देखने के बाद हम जहाँ-तहाँ कुछ औरतों से बातें करने को ठहरते हुए गाँव में घूमे। कई औरतें सूत कात रही थीं; कुछ बच्चों की देख-रेख कर रही थीं। सबकी-सब थीं बड़ी मिलनसार और जिस हद तक उन्होंने नर्सों को अपनाया था, वह भी एक आश्चर्य की बात थी।

नर्सें बाहर की थीं, गाँववालों के लिए अजनबी। गाँव की औरतों के आम घेरदार घाघरों के बदले वे सफ़ेद-बुर्राक़ साड़ियाँ पहनती थीं। गाँव के मर्दों के सामने उनका आचरण "निर्लज्जता" का होता था; क्योंकि वे न तो

घूंघट निकालती थीं, न सर ढँकती थीं। और तो और उनमें से अधिकांश अविवाहित थीं, फिर भी पुरुषों की नज़रों से बचकर रहने की कोशिश नहीं करती थीं। उनमें से बहुतों को गाँव की बोली बहुत कम आती थी और आपस में वे जिस भाषा में बातें करती थीं, वह गाँववालों की समझ में नहीं आती थी।

इसके अलावा ये नर्सें गाँव के लोगों को ऐसा काम करने की सलाह देती थीं—जो गाँव के इतिहास में पहले कभी किये नहीं गये थे; और ऐसे-ऐसे काम करने से मना करती थीं, जिन्हें वे और उनके पुरखे सदियों से करते चले आ रहे थे। उदाहरण के लिए; प्रत्येक व्यक्ति को हमेशा से मालूम था कि बच्चे को एक महीने का होने से पहले पानी पिलाने से उसका पेट फूल जाता है और ज़रा सोचिये कि घाव पर ठंडी पट्टी के बजाय किसी बदबूदार पीले पदार्थ में भीगा हुआ सफ़ेद कपड़ा रखा जावे! और भी देखिये; कुछ लोगों का कहना था कि यदि बच्चे को धातु की उस विचित्र वस्तु में, जिसे नर्सें तराज़ू कहती हैं, रखा गया तो उसके ऐंठन होने लगेगी और वह मर जायगा।

जब नर्सें पहले-पहल गाँव में आयीं तो उन्हें ऐसी और इसी प्रकार की कई दूसरी धारणाओं का सामना करना पड़ा। ऐसे अन्धविश्वासों को अभी पूर्णतया समाप्त नहीं किया जा सका है; किन्तु उनका प्रभाव धीरे-धीरे घट रहा है।

गाँव की गलियों से गुज़रती हुई नर्सें उन औरतों से, जो अपने घरों के दरवाज़ों पर बैठी थीं, हँसती-बोलती जाती थीं। वे उनके पहनावे व बच्चों की बड़ाई करती जाती थीं। यदि किसी औरत को कुछ तकलीफ़ होती और वह नर्सों से उसकी चर्चा करती तो वें धैर्यपूर्वक उसकी बात सुनतीं और सहानुभूति-पूर्वक उत्तर देती थीं।

इस तरीक़े से उन्होंने पहले गाँववालों का विश्वास प्राप्त किया। तब किसी साहसी औरत ने अपने बच्चे को पानी पिलाया होगा और देखा होगा कि उसका पेट फूला अथवा नहीं, या उसने बड़ी सावधानी से अपने बच्चे को तराज़ू पर रखने दिया होगा कि उसे किसी प्रकार की ऐंठन नहीं हुई, और जब नर्सें उसे तोलने एक महीने बाद फिर आयी होंगी, तो उसकी माँ ने अपनी आँखों से देखा होगा कि उसके बच्चे का वज़न बढ़ गया था।

नर्सों का काम कठिन और प्रायः उत्साह-भंग करनेवाला था। परन्तु दैनिक सफलताओं ने—चाहे वे छोटी-मोटी ही थीं—उन्हें अपना काम करते जाने की हिम्मत दिलाई।

चावला क़रीब १५०० लोगों का गाँव है, जो एक छोटे-से क्षेत्र में बसा हुआ है। यह गाँव भारत के अधिकांश गाँवों से बड़ा है। औसत गाँव ७०० की आबादी का होता है। आमतौर से घर गारे में भूसा मिला कर बनाये जाते हैं और मिट्टी से लीपे जाते हैं। ये घर एक दूसरे से सटे हुए होते हैं। किन्हीं-किन्हीं अधिक सम्पन्न लोगों के मक़ान लकड़ी और ईंट के पक्के बने हुए होते हैं। औसत घर छोटा होता है जिसमें दो या तीन बचकानी अँधेरी कोठरियाँ और एक खुला सहन होता है। घर के सारे काम इस सहन में होते हैं। परिवार के अनेक सदस्य सहन में ही खाते, काम करते और सोते हैं; और कई बार गाय या भैंस भी वहीं बँधती है। एक कोने में चूल्हा रहता है। प्रायः एक या दो चारपाइयाँ पड़ी रहती हैं, जिन पर औरतें काम से निबट कर आराम कर सकती हैं, बैठ कर बातें कर सकती हैं। वहीं शाम को पुरुषों की बैठक जमती है और हुक्का पीते हुए, वे अपने गाँव, अपने देश और कभी अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं पर चर्चा करते हैं।

सहन के पासवाली दो या तीन छोटी-छोटी कोठरियों में खेती-बाड़ी का सामान, पशुओं का चारा और परिवार की चीज़ें रखी जाती हैं। खिड़कियाँ कहीं-कहीं ही होती हैं और कोठरियों में अँधेरा रहता है। घर आमतौर पर बहुत साफ़ रहते हैं। मिट्टी के कड़े फ़र्श पर प्रतिदिन झाड़ू लगायी जाती है और पकाने-खाने के पीतल के बर्तन प्रायः खूब चमका कर रखे जाते हैं।

लेकिन गाँववालों की सफ़ाई की भावना उनके घर के दरवाज़े से आगे शायद ही कभी बढ़ती है। वे अपने सहन के फ़र्श पर थूकना गवारा नहीं करते, किन्तु बड़ी सावधानी से दरवाज़े तक जा कर गली में थूक आते हैं। इसका वे पूरा इन्तजाम करते हैं कि घर का गन्दा पानी बाहर निकल जाय—भले गली मे बहता रहे। ऐसे ग्रामीणों में सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना—सामाजिक चेतना—जाग्रत करना नर्सों के लिए एक बड़ी समस्या थी।

भारत के अधिकांश गाँवों की तरह चावला में भी विभिन्न जातियाँ रहती हैं और प्रत्येक का गाँव में अपना खण्ड है। विभिन्न जातियों के लोगों का आपस

में निस्संकोच मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध है; परन्तु एक साथ खाने-पीने और आपस में विवाह करने पर आज भी प्रतिबन्ध है।

चावला में पहिली सुबह को बैलों की घंटियों की आवाज़ ने मुझे जगाया। उस समय बैलों को खेतों पर काम करने के लिए ले जाया जा रहा था। अभी छः बजे थे और मुझे नींद आ रही थी। मुझे मालूम हुआ कि किसान सबेरा होते ही खेतों की जुताई में जुट जाते थे; गृहिणियाँ कुओं से पानी भरने और घर के अन्य कामों में लग गयी थीं और उनके बच्चे खेलने में। गाँव के लोग सूर्योदय के साथ जाग जाते हैं और सबेरे की ठंडक में काम करते हैं। वर्षा से पहले खेतों की जुताई करने का वक्त था इसलिए मर्दों तथा लड़कों को फुर्सत ज़रा भी नहीं थी।

हम बाहर सोये थे, जहाँ ठंडक थी। मेरी सहेलियाँ उठ चुकी थीं और अपने बिस्तरे उठा रही थीं या स्नान कर रही थी। गाँव में न तो बिजली थी, न पानी के नल। पानी डोलों और पीतल तथा मिट्टी के बड़े-बडे घड़ों में भर कर हमारे अहाते में और गाँव के घरों में गाँव के बाहर के कुओं से आता था, जो कभी-कभी तो आधे मील से भी ज्यादा दूर होते थे।

कुओं से पानी प्रायः औरतें लाती है। ढंके हुए सर पर पानी से लबालब भरा हुआ मिट्टी का घड़ा, उसका लहराता और सरसराता हुआ घेरदार घाघरा, खनकते हुए गहने और नाचती हुई कजरारी आँखें—भारतीय गाँव की यह नारी ऐसी लगती है जैसे किसी पुस्तक में से बाहर निकल कर आयी हो—हृष्ट-पुष्ट, प्रफुल्ल और सुन्दर! उसका टखनों के ठीक ऊपर तक पहुँचनेवाला घाघरा कमर पर खूब कसा हुआ, भरावदार और शानदार होता है जो चटकीले रंग की छींट का बनता है। घाघरे के अलावा वह ढीली, लम्बी क़मीज पहनती है और चटकीले रंग की ओढ़नी ओढ़ती है, जो उसके सर को और कभी-कभी उसके सारे चेहरे को ढँक लेती है।

लड़की को उसकी शादी के समय खूब सारे गहने दिये जाते हैं—चूड़ियाँ, बाजूबंद, पायजेब, नथ, बालियाँ, बालों के आभूषण और गले के हार—जिनमें से अधिकतर भारी, सुन्दर और चांदी के तथा नक़्काशी के काम के होते हैं। ये गहने उसके परिवारवाले काफ़ी खर्च करके खरीदते हैं। यही चीज ग्रामीण के उस कर्ज का मुख्य कारण है जिसका बोझ लादे हुए वह जीता और मरता है।

७ बजे तक हमने परोंठा, उबले हुए मसालेदार आलू और दूध या चाय का नाश्ता किया और लड़कियाँ अपने रोज़मर्रा के काम के लिए तैयार हो गयीं। वे सहन की एक इमारत में ही एक महिला डाक्टर की मदद से दवाखाना भी चलाती थी। यह डाक्टर नज़दीक़ के क़स्बे-नजफ़गढ से सप्ताह में एक बार आती थी। उस दिन सुबह मैं भी उनके दवाखाने गयी और चिकित्सा-विभाग के काम में मैने उनका हाथ बँटाया।

नर्सिंग कालेज के धन से चलनेवाली यहाँ की स्वास्थ्य-सेवा चावला गाँव के प्रत्येक व्यक्ति को उपलब्ध है। चावला के पाँच वर्ष की उम्र के अधिकांश बालकों का पूरा विवरण-पत्र मौजूद था। यह विवरण यथासम्भव बालक के जन्म से ही रखा जाता है, जिस पर उसके स्वास्थ्य का पूरा ब्योरा रहता है। घर में और दवाखाने मे उसका जो भी इलाज हुआ हो, उसका और उसके माहवारी वज़न की वृद्धि का भी विवरण अंकित रहता है।

जब कोई औरत गर्भवती होती है तो एक नया विवरण-पत्र शुरू किया जाता है, जिस पर मासिक परीक्षण के परिणाम लिखे जाते हैं। इन विवरण-पत्रों पर पहिले की सन्तानो के नाम और स्वास्थ्य की स्थिति या मृत्यु का कारण भी लिखा रहता है। उदाहरण के लिए:—

नाम : शान्तिदेवी

पहिले के बच्चे :

नाम	जाति	जन्मतिथि	स्वास्थ्य	मृत्यु का कारण	मृत्यु के समय आयु
उषा	स्त्री०	१९४४	अच्छा	—	—
रामलाल	पु०	१९४५	—	मोतीभरा	४ वर्ष
हरिराम	पु०	१९४७	—	न्यूमोनिया	६ मास
पुष्पा	स्त्री०	१९४९	ज्वर	—	—
मोहिन्दर	पु०	१९५१	अच्छा	—	—

जून ५, १९५२—२० सप्ताह की गर्भवती

निश्चय ही स्वास्थ्य-सेवा ने जन्मकाल की और बचपन की मृत्यु-संख्या को कम कर दिया है। फिर भी शिशुओं और बच्चों की मृत्यु होती है। सारे भारत में ५० प्रतिशत बच्चे १२ वर्ष के होने से पहिले और चौथाई अपने जीवन के

प्रथम वर्ष में मर जाते हैं। एक मुश्किल यह है कि गाँववालों को उचित प्रकार का पर्याप्त भोजन उपलब्ध नहीं होता। उनमें से कुछ अपने बच्चों के प्रति बड़ी लापरवाही बर्तते हैं और सफ़ाई की महत्ता बहुत ही कम लोग समझते हैं।

मैं नहीं समझती कि आमतौर से उन्हें भोजन की कमी है। विशेषत: अब, जब कि गत कुछ वर्षों में भारत के खाद्य-उत्पादन में वृद्धि हुई है; परन्तु उनके आहार में बहुधा शाक, फल और ज्यादा प्रोटीनवाले खाद्य-पदार्थों की कमी रहती है। उनके भोजन में धान और चर्बीले पदार्थों जैसे भारी खाद्यों की अधिकता रहती है। चावला के लोग हिन्दू हैं; और प्राय: सभी कट्टर शाकाहारी, जो न तो मांस खाते हैं, न अण्डे।

एक अनाज की दुकान के अतिरिक्त चावला में कोई ऐसी जगह नहीं है, जहाँ गाँववाले खाद्य-पदार्थ ख़रीद सकें। साग-भाजी बेचनेवाला कभी-कभी गाँव से होकर गुज़रता है। परन्तु नियमित रूप से उसके आने का कोई भरोसा नहीं होता। नज़फ़गढ़ का क़स्बा तीन मील दूर है और चावला तथा आस-पास के गाँवों के लोग प्राय: वहाँ के बाज़ार में साग-भाजी और फल खरीदने के लिए पदल, साइकिल से या अपनी बैलगाड़ियों में बैठ कर जाते हैं।

एक दिन मैं तीन नर्सों के साथ गाँववालों की तरह बाज़ार में ख़रीदारी करने और एक अन्य दवाख़ाने की मदद करने के लिए साइकिलों पर बैठ कर नजफ़गढ़ गयी। नजफ़गढ़ में इस दवाख़ाने के अलावा एक नया अस्पताल है, जो आस-पास के २८ गाँवों की सेवा कर रहा है और भविष्य में जिले भरकी सेवा करने के लिए उसका विस्तार कर दिया जायगा।

दवाख़ाने में कुछ घण्टे काम करने के बाद हम भीड़-भाड़ वाले बाज़ार से साग और फल ख़रीदकर लाये। अमरीका के स्तर की तुलना में क़ीमतें आश्चर्यजनक रूप से कम थीं। उदाहरणार्थ—हम तीन ख़रबूज़े पाँच आने यानी छ: सेंट में ख़रीदकर लाये। बाज़ार की दुकानों में अनेक प्रकार के साग थे—टमाटर, आलू, खीरा, लौकी, भिण्डी, फलियाँ और प्याज़ तथा फल भी—केले, नारियल, ख़रबूज़े, बेर, आम, आड़ू, लीची। खोन्चेवाले महीन की हुई बर्फ़ के गोले, शर्बत छिड़ककर बेच रहे थे। यह चीज़ बच्चों को खास तौर से पसन्द थी।

मैंने चावला में जितने दिन विताये उनमें से अधिकांश दिन मैं किसी नर्स

के साथ गाँव के घरों के नियमित दौरे पर निकलती थी। हम उस अनचहेती छोटी लड़की को लगभग रोज़ ही देखने जाते थे। एक सप्ताह में उसकी हालत कुछ सुधरी। नर्स हैकी बहुधा बच्ची को नहलाती-धुलाती और उसे कुछ पानी और दवाई पिलाती थी। हमें पता चला कि बच्ची की माँ का मुँह उसके पति ने डेढ़ महीने तक नहीं देखा; लड़की पैदा हुई यह दोष उसी का तो था!

एक दिन हम उस परिवार के घर पहुँचे, जिसने आहार-तत्त्व सम्बन्धी खोज करनेवाली छात्रा को, अपने छोटे बच्चे का जन्म से ही साप्ताहिक वज़न लेने की अनुमति दे दी थी। यह परिवार समाज के अधिक प्रगतिशील परिवारों में से था। परिवार की औरतें बहुत ही स्वस्थ और मिलनसार थीं और बिना किसी हीले-हवाले के वे नर्सों की सलाह मानती थी।

एक दिन सुबह ठंडक में जब मैं गहरी नींद में सोयी हुई थी, किसी की आवाज़ सुन कर जाग पड़ी। उस वक्त क़रीब ४॥ बजे थे और प्रकाश फूट रहा था। आवाज़ थी "मिस साहिब", "मिस साहिबा जी!" (युवा औरतों के लिए आदरसूचक शब्द।) हम सब बाहर पास-पास सोयी हुई थी, अतः इस आवाज़ को औरों ने भी सुना।

"क्या हो गया!" मैंने एक नर्स को कहते सुना। और फिर सुना—"हैकी जल्दी उठो! लक्ष्मी का मामला है।" लक्ष्मी गर्भवती थी। हैकी और मैं पिछले दिन ही उसे देख कर आयी थी। जून के प्रथम सप्ताह में उसके बच्चा होने वाला था। उसी का एक सम्बन्धी हमें बताने आया था कि लक्ष्मी के बच्चा हो रहा है। हैकी और सुपरवाइज़र नर्स तुरन्त ही चल पड़ीं।

थोड़ी देर बाद वे लौटी। लक्ष्मी के पौने दस बजे एक हृष्ट-पुष्ट लड़का हुआ था, जिसका वजन साढ़े सात पौंड था।

कुछ देर बाद हम उस नवजात बच्चे के घर गये। मुझे ताज्जुब हो रहा था कि लोगों से भरे हुए छोटे-से मकान में प्रसव एकान्त में किस प्रकार होता होगा। एक छोटी-सी कोठरी के एक कोने में, एक चारपाई डाल कर उसके आगे आड़ कर दी गयी थी। मेरी सहेली ने मुझे बताया कि इस पर भी एकान्त नाममात्र का होता है और गाँव के बच्चे तक इन बातों के बारे में बहुत कुछ जानते हैं।

लक्ष्मी लेटी थी और उसकी बगल में उसका सात घंटे का पुत्र सो रहा था।

मैंने उसे उठाया और हैकी ने उसे थोड़ा पानी दिया। अगले दिन जब हम फिर उसे देखने गयी तो हैकी ने मुझे शिशुओं को स्नान कराना सिखाया और मैंने उस बालक को नहलाया। पड़ोस की औरतें और बच्चे दरवाज़े के बाहर खुशियाँ मना रहे थे। यदि लड़का न हो कर लड़की हुई होती तो शायद इस प्रकार की खुशियाँ न मनायी जातीं।

एक रात भोजन करने के पश्चात्, एक नर्स और मैं गाँव की एक लड़की के घर जा पहुँची, जिसकी उसी समय शादी हुई थी। सुबह क़रीब ७ बजे उसका वर आया था। हमने उसे अपने अहाते के पास से गुजरते देखा था। वह पास के गाँव का था। (अधिकांश शादियाँ पर-गाँव में ही होती हैं।) बैलगाड़ियों का, जिनमें उसके मित्र और सम्बन्धी बैठे थे, एक छोटा-सा जुलूस उसके साथ था।

जुलूस के आगे-आगे एक बैण्ड था, जो शायद रास्ते भर बजता रहा था। ऐसे जुलूस को, जिसके साथ वर वधू के घर आता है, बारात कहते हैं। मैं पहले भी दिल्ली में सुमन के साथ बारात देख चुकी थी, किन्तु इस गाँव के वर के पास पीली मोटर नहीं थी।

जुलूस गाँव की सीमा पर आकर रुक गया था। जब वधू के परिवार के एक व्यक्ति ने आकर वर का और उसके परिवारवालों का हाथ जोड़ कर और "जय राम" कह कर अभिवादन तथा स्वागत किया, तब बारात वधू के घर की ओर बढ़ी। वधू के यहाँ पहुँच कर सारे दिन धार्मिक-संस्कार और खान-पान होता रहा।

शाम को जब हम वधू से मिलने गयीं, उस समय तक वर और वर पक्ष-वाले भोजन करके जा चुके थे। हमें घर के अन्दर बुला लिया गया और हमने देखा कि वधू अपनी माँ और अन्य दो औरतों के साथ आँगन के एक कोने में बैठी थी। उसके बालों की कई छोटी-छोटी चोटियाँ गूँथी जा रही थीं। वह क़रीब सोलह साल की लगती थी और बहुत सुन्दर थी। चूँकि वह गाँव की बेटी थी और उसका पति और मेहमान जा चुके थे, इसलिए उसका मुँह खुला हुआ था। उसने यह सब बातें हमें यह कह कर बतायी कि जो लोग बाहर बैठे बातें कर रहे थे, वे सब तो उसके "भाई" हुए; इसलिए उसे मुँह ढंकने की जरूरत नहीं थी।

उसका पति अगले दिन आकर शाम को उसे अपने गाँव ले जानेवाला था। उसे तीन दिन ससुराल में रहना था। वहाँ भी वही खान-पान और पूजा-संस्कार होनेवाले थे। और तीन दिन के बाद ६ या ८ महीने के लिए उसे अकेले अपने गाँव लौट आना था। उसके बाद वह अपने पति के घर स्थायी रूप से रहने जायगी। वहाँ वह गाँव की बेटी नहीं होगी और पुरुषों के सामने उसका मुँह ढँका रहेगा।

शादी के बाद लड़की अपने घर कितने दिन रहे यह लड़की की आयु पर निर्भर करता है। उदाहरणार्थ—हम एक दूसरी लड़की से मिले, जिसकी शादी जब वह नौ साल की थी तभी हो गयी थी और अब वह अठारह साल की थी। अभी वह चावला में ही रहती थी—अपने पति से दूर। मेरा खयाल है कि वह अब जल्दी ही ससुराल चली जायगी।

अधिकांश लड़कियों की शादियाँ ८ से १५ साल की उम्र में हो जाती हैं। यही बात हम अमरीका मे सुनते हैं और उसकी वजह से हम बाल-विवाह को ले कर भारतीयों की आलोचना करते हैं। परन्तु जन-स्वास्थ्य की सुपरवाइज़र ने जैसा हमें बताया—"अन्तत: बात वही है। इस इलाके मे वधू प्राय: अपने पति के साथ उस समय तक नही रहती, जब तक कि वह सत्रह या अठारह साल की नही हो जाती, और सत्रह वर्ष की होने के पूर्व किसी-किसी लड़की के ही बच्चा होता है। आम तौर से वह इससे एक या दो साल बड़ी ही होती है।"

हाल ही मे एक क़ानून पास हुआ है जिसके अनुसार पन्द्रह वर्ष की होने के पूर्व लड़की का विवाह नही किया जा सकता। लड़के की उम्र कम-से-कम १८ वर्ष की होनी चाहिये।

मुझे चावला सुन्दर लगा। वहाँ का जीवन अनिवार्यत: सादगीपूर्ण था। वर्तमान समाज के जटिल और बहुधा अनावश्यक प्रभाव वहाँ अभी तक नहीं आये थे। मैंने किसी तरह अनुभव किया कि उसके फलस्वरूप वहाँ के लोग अपने प्रियजनों और प्रकृति के अधिक निकट थे। वे लोग अन्य लोगो की अपेक्षा पृथ्वी, वर्षा और पशुओं पर अधिक निर्भर रहते थे। मुझे यह वातावरण सुखी लगा।

गाँव की ऊबड़-खाबड़ धरती के रंग से मिलते-जुलते घर, पकी हुई मिट्टी

के मटके, लकड़ी का हल, घर के कते सूत के कपड़े, सब बिलकुल सादे थे और उस प्रकृति के ही अंग थे, जिनसे उनका निर्माण हुआ था। इसी कारण वे मुझे सुन्दर लगे।

वहाँ की शान्ति विस्मयजनक थी। उसे पूर्ण नीरवता नहीं कह सकते। पशुओं की घण्टियों की टनटनाहट, कुत्तों का भौंकना, चिड़ियों के गीत, बाँसुरी की स्वर-लहरी जैसी अनेक मधुर आवाज़ें उस शान्ति में रह-रह कर गूंज उठती थीं। नजफ़गढ़ जानेवाली कोई ट्रक कभी-कभी गाँव के पास की बहुधा शान्त रहनेवाली सड़क से गुज़र जाती थी। मशीनों की आवाज़ कभी-कभी सुनायी दे जाती थी।

परदेशी होने के नाते मुझे चावला में सुन्दरता, मिलनसारी और शान्ति के दर्शन हुए। परन्तु यदि मेरा जन्म उस गाँव में हुआ होता, यदि मैं निरक्षर रहती और जब कभी आशा के विपरीत पैदावार काफ़ी न होने से मुझे भूखा रहना पड़ता तथा युवा होने पर मैं गाँव से बाहर निकलती और दूसरों के ऐश-आराम देखती, तब सम्भवत: गाँव की जिन्दगी के प्रति मुझ में घृणा का भाव ही उत्पन्न होता।

उस समय मुझे यहाँ—जहाँ लोग, अभावग्रस्त और अनावश्यक रूप से दु:खी रहते हैं, यही सुन्दरता देखने को नहीं मिलती। और तब या तो मैं गाँव से चली जाती और शहर में बस जाती, जो मुझे अधिक आकर्षक लगता; क्योंकि वहाँ मुझे वे सब सुख-सुविधाएँ मिलतीं, जिनकी मैंने गाँव में कभी कल्पना भी न की होती। या फिर मैं अपने लोगों की सहायता करने के लिए वापस आ जाती।

अनावश्यक रोग और ख़राब स्वास्थ्य कुरूपता है; भूख कुरूपता है। अशिक्षा और अज्ञान कुरूपता है। सम्भवत: मुझ परदेसिन को इन कुरूपताओं का कभी अनुभव नहीं हुआ था और मैं यह भी जानती हूँ कि लोग इन कुरूपताओं को दूर करने के लिए अथक प्रयत्न कर रहे थे, इसीलिए शायद मैं गाँव में सुन्दरता के दर्शन कर सकी।

ग्यारह

कालेज का जीवन

दिल्ली पब्लिक स्कूल मई में गर्मियों की छुट्टियों के लिए बन्द हो गया। मैंने बड़ी प्रसन्नता से उससे विदा ली और इस निश्चय के साथ कि अगस्त में जब वह फिर खुलेगा, मैं लौट कर उसमें नहीं आऊँगी। उस वर्ष मैं क्या करूँगी, इसका मैंने निश्चय नहीं किया था। कभी भी कुछ समय तक लगातार मैं दिल्ली से, जिसे मैं अपना घर मानने लगी थी, बाहर कहीं नहीं रही थी—इसलिए बाकी देश से मैं अपरिचित थी। प्रश्न यह भी था कि मैं अपनी स्कूली पढ़ाई को यों कब तक रोके रहूँ।

मैंने पश्चिम बंगाल के एक विश्वविद्यालय के बारे में सुन रखा था, जहाँ भारतीय संस्कृति के अध्ययन पर ज़ोर दिया जाता है। यह विश्वविद्यालय कलकत्ते से सौ मील उत्तर में स्थित है। जब वहाँ मुझे एक विशेष छात्रा के रूप में प्रवेश मिल गया, तब मुझे बड़ी खुशी हुई।

इस विश्वविद्यालय की, जिसका नाम है शान्तिनिकेतन, स्थापना महान कवि, लेखक, कलाकार और संगीतज्ञ रवीन्द्रनाथ टैगोर ने की थी। १९४१ में अपनी मृत्यु होने तक टैगोर स्वयं इसका संचालन करते रहे। अपनी आत्मकथा के "मेरी पाठशाला" शीर्षक अंश में टैगोर ने लिखा है:—

विकासशील मस्तिष्क में यह विचार बोया जाना चाहिए कि वह एक मानवीय संसार में उत्पन्न हुआ है, जिसका उसके चारों ओर के संसार से समन्वय है। हमारे नियमित ढंग के स्कूल श्रेष्ठ ज्ञान का कठोर और अवहेलनापूर्ण रुख अपनाकर इसी सत्य की उपेक्षा करते हैं '......

हम इस संसार में आये हैं इसे अपनाने के लिए, इसे जानने मात्र के लिए नहीं। हम ज्ञान से शक्ति चाहे प्राप्त कर लें, परन्तु परिपूर्णता सहानुभूति से ही प्राप्त कर सकते हैं। महत्तम शिक्षा वह है, जो हमें सूचना का भण्डार ही नहीं बनाती, वरन् हमारे जीवन और स्थिति को एकलयता प्रदान करती है। परन्तु हम देखते हैं कि स्कूलों में सहानुभूति की शिक्षा की व्यवस्थित रूप से उपेक्षा ही नहीं की जाती, अपितु उसका कठोरता के साथ दमन किया जाता है।

......हम भूगोल की शिक्षा देने के लिए बालक को मिट्टी से दूर हटाते हैं; व्याकरण सिखाने के लिए उसकी भाषा उससे छीनते हैं......

......बालक का स्वभाव अपनी पीड़ा की समस्त शक्ति से इस अत्याचार का विरोध करता है और अन्त में दण्ड के भय से चुप हो जाता है।

तथापि १९४१ में टैगोर की मृत्यु होने के बाद और शान्तिनिकेतन के सरकार द्वारा समर्थित विश्वविद्यालय बन जाने के बाद उसका कालेज बहुत-कुछ भारत के अंग्रेजी ढंग के कालेजों के समान कर दिया गया है। मेरा विचार है कि यह बात दुर्भाग्य की हुई। फिर भी टैगोर की भावना अब भी वहाँ व्याप्त है और इसी कारण तथा वहाँ के कला और संगीत-स्कूलों का लाभ पाने की इच्छा से मैंने शान्तिनिकेतन जाने का निश्चय कर लिया।

शान्तिनिकेतन में स्कूल का साल जुलाई के मध्य में शुरू होता था। परन्तु चूँकि कोई भी समय की पाबन्दी की परवाह नहीं करता था और न उस पर ज़ोर देता था, और चूँकि मुझे दिल्ली छोड़ने की जल्दी न थी इसलिए मैं कुछ दिन देर करके पहुँची।

दिल्ली छोड़ना कुछ अजीब लगा। शहर की बहुत-सी चीज़ें मुझे नापसन्द थीं, जैसे उसका पाश्चात्य शैली का तथा कृत्रिम वातावरण। जब मैं अपरिचित लोगों के बीच से गुज़रती तो लोग मुझे घूरा करते और मैं सबसे अलग दिखाई देती थी। ये बातें भी मुझे पसन्द नहीं थीं।

परन्तु दिल्ली मेरा घर बन चुकी थी और उसकी कुछ बातों को मैं प्यार करने लगी थी—जैसे उसके भीड़-भरे बाजार, मेरे अस्पताल के बच्चे, सुमन, शकूर और दूसरे नौकर, जो मेरे अच्छे मित्र बन गये थे। उनसे और अपने परिवार से भी विदा होने में मुझे बड़ा दुःख हुआ। इन सबको छोड़ कर बोलपुर की, जो शान्तिनिकेतन का सबसे नजदीक का स्टेशन है, छब्बीस घंटे की रेल-यात्रा करना आसान न था।

स्टेब गाड़ी में मेरे साथ थीं। हमने छः सीट के दूसरे दर्जे के डिब्बे में दो सीटें रिज़र्व करा ली थीं। कलकत्ते की ओर आगे बढ़ते हुए मैंने अपने साथ सफ़र करनेवाले लोगों पर ग़ौर करना शुरू किया। (मेरा ख़याल है कि रेल के डिब्बे में सभी एक दूसरे पर ग़ौर करते हैं।) डिब्बे में दो भारतीय किशोरियाँ थीं—बड़ी हँसमुख और मैत्रीपूर्ण, जो लखनऊ के एक लड़कियों के

कालेज में पढ़ने जा रही थीं। उन्होंने सादी सफ़ेद सूती साड़ियाँ पहन रखी थीं। दोनों ने अपने काले, सुन्दर बालों की दो-दो चोटियाँ बना रखी थी।

तीसरी सीट शुष्क, उग्र स्वभाववाली अधेड़ आयु की एक अँग्रेज़ महिला की थी। वह कानपुर जा रही थी। उसने हमें बताया—"मैं लगभग चाय के वक्त उतर जाऊँगी।"

दो यात्री और थे। एक मोटी, अधपके बालोंवाली पंजाबी महिला और उसकी दुबली-पतली सुन्दर पोती। वे शायद पंजाब की विस्थापित थीं, जो दिल्ली में आ कर बसी थीं। वे बहुत कम बोलीं और बाकी मुसाफ़िरों की तरह अधिक समय सोती रहीं।

अँग्रेज़ महिला के कहने के अनुसार ही गाड़ी चाय के समय कानपुर पहुँची। वह महिला और दोनों छात्राएँ वहाँ उतर गयीं। अँधेरा पड़ने के बाद हम इलाहाबाद पहुँचे जो बनारस के पास है। दोनों पंजाबी महिलाएँ वहाँ उतर गयीं। अब रात भर के लिए डिब्बे मे मैं और स्टेब ही रह गयीं।

सबेरे हम एक नयी भूमि में पहुँच गये—बंगाल की चावल उपजानेवाली हरी और तर भूमि में। कही खेतों में लोग एड़ी-एड़ी भर पानी मे हल चला रहे थे और कही लोग हरे-हरे पौधों को एक स्थान से हटा कर दूसरे स्थान पर लगा रहे थे। जिस भूमि को हम छोड़ कर आये थे, वह इसकी तुलना में भूरी और सूखी थी।

स्टेशनों पर हमने देखा कि भाषा और लिपि दिल्ली से भिन्न थी। जगह-जगह कोलगेट टूथपेस्ट, अंग्रेज़ी बिस्किटों, भारतीय सीमेंट तथा दूसरी वस्तुओं के बंगला भाषा के विज्ञापन लगे हुए थे। यह भाषा हिन्दी की एक बहन है। लोगों की वाणी धीमी और संगीतमय थी।

पहनावा भी उससे भिन्न था, जिसको देखने के हम दिल्ली में आदी हो गये थे। पुरुष अपने शरीर के चारों ओर लपेट कर धोती बाँधते थे। स्त्रियाँ मेरी तरह सलवार-क़मीज़ के बजाय साड़ियाँ पहनती थीं।

बंगाल में बर्दवान स्टेशन पर दोपहर होने से पहले हमने गाड़ी बदली। डिब्बा फिर भर गया। परन्तु मुझे नींद आ रही थी, इसलिए मैंने साथ के मुसाफ़िरों पर ग़ौर नहीं किया। दो तो मुझे भारतीय व्यापारी मालूम हुए। एक नवविवाहित दम्पति भी थे। वधू आभूषणों से लदी थी और चटकीली लाल रंग की साड़ी में शर्माई जा रही थी।

दोपहर के भोजन से पहले ही हम बोलपुर और शान्तिनिकेतन पहुँच गये। स्टेब कुछ देर बाद लौट गयीं और मुझे अपने कमरे में पहुँचा दिया गया। मेरा कमरा लड़कियों के निवास के उस हिस्से में था, जिसमें कला की छात्राएँ रहती थीं। लगभग तीस छात्राएँ उसमें थीं। अधिकांश कमरों में दो-दो लड़कियाँ साथ रहती थीं और कुछ में अकेली। मेरा कमरा दो लड़कियों के रहने के लिए था, परन्तु मेरे साथ दूसरी लडकी अगस्त में आयी। दूसरी मंज़िल का यह कमरा छोटा था। दीवारें सादी और सफ़ेद पुती हुई थीं; पत्थर का फ़र्श नंगा था। उसमें दो तख़्त जैसी नीची चारपाइयाँ पड़ी थीं जिन पर पतले गद्दे बिछाये जाते थे। दो मेज़ें और एक स्टूल भी था। कमरे में चार खिड़कियाँ थीं—दो बाहर खुलती थीं और दो अन्दर हाल में। इनसे कमरे में काफ़ी रोशनी और हवा आती थी। बिजली की एक मद्धम बत्ती भी थी जिसके प्रकाश में रात को पढ़ा नहीं जा सकता था। कमरा सादा और सुख-मय था।

मैंने अपना सामान खोला; तस्वीरें, किताबें और दूसरी छोटी-मोटी चीज़ें अलमारियों में जमायीं। बिस्तर एक चारपाई पर बिछाया और उस पर एक रंगीन चादर बिछाई; अपने कपड़े एक छोटे-से बक्स में जमाये। अब कमरा मुझे अपना ही लगने लगा। मुझे विश्वास हो गया कि इस कमरे में मैं खुश रहूँगी।

अपने आगमन के दो दिन बाद मैं अपने कमरे में बैठी पढ़ रही थी कि मुझे छत पर किसी के भागने की धप-धप की आवाज़ सुनायी दी। मेरी खिड़की के ऊपर वह आवाज़ रुक गयी और मैंने देखा कि एक काला हाथ नीचे उतरा और उसके पीछे-पीछे एक बन्दर का बड़ा-सा, बालदार भूरा शरीर। वह मेरी खिड़की में आकर बैठ गया और कुछ देर मुझे तथा मेरे कमरे को देखता रहा। फिर, जिस फुर्ती से वह आया था उसी फुर्ती से चला गया। मैं समझ गयी कि वह "कमरा निरीक्षक" था; क्योंकि मुझे मालूम था कि वह इसी तरह और लड़कियों का भी निरीक्षण कर आया था। मैंने महसूस किया कि मैं उसकी परीक्षा में उत्तीर्ण हो गयी हूँ और वह मुझे अपनी चर्चाओं का विषय न बनायेगा।

और भी जीव-जन्तु मेरे कमरे के चक्कर लगाया करते थे; जैसे चिड़ियाँ, छिपकलियाँ, कुत्ते और हर तरह के कीड़े-मकोड़े। एक चिड़िया ने दीवार के

एक कोने में घोंसला बना लिया था और वह अक्सर आकर उसमें बैठा करती थी। मुझे मालूम है कि मेरी गैरहाज़िरी में कौए खाने की तलाश में आया करते थे। छोटी और बड़ी सभी तरह की छिपकलियाँ रात को निकलतीं और दीवारों पर दौड़-दौड़ कर कीड़े-मकोड़े पकड़ती थीं। मै इनसे और वे मुझसे दूर ही रहती थीं।

आवारा कुत्ते, जो रसोई से भोजन चुरा-चुरा करके अपना पेट ठूँस लिया करते थे, इच्छानुसार छात्रावास में घूमते थे। बाहर मेरी खिड़की के नीचे, घास में दो गायें बँधी रहती थीं और मुर्गियों के बच्चे आज़ादी से इधर-उधर घूमा करते थे।

मैंने जल्दी ही अपने को शान्तिनिकेतन के जीवन में ढाल लिया। रोज सबेरे पाँच बजे से कुछ पहले ही मैं अपनी होस्टल की साथिनों की बोल-चाल और गाने से जाग जाती थी। उस समय सूर्य की किरणें फूट ही रही होती थीं और काफ़ी ठंडक होती थी।

लगभग छः बजे हम बड़े-से भोजन-कक्ष में नाश्ता करते थे। नीची-नीची लकड़ी की मेज़ों के सामने हम सँकरी बेंचों पर बैठते थे। नाश्ते में कोको के साथ ताज़ा मक्खन लगी हुई रोटियाँ, जिन पर शक्कर भुरकी होती थी या पूरियाँ और एक हरी सब्जी मिलती थी।

रोज़ नाश्ते के बाद एक छोटी-सी गायन-प्रार्थना-सभा होती थी। विद्यार्थियों के अलग-अलग दल एक-एक हफ़्ते उसका नेतृत्व किया करते थे। प्रार्थना चुपचाप होती थी और टैगोर के लिखे गीत हमारे अमरीकी लोकगीतों से काफ़ी मिलते-जुलते थे।

सुबह प्रायः मेरी दो-तीन क्लासें लगती थीं। लगभग साढ़े ग्यारह बजे हम भोजन करते थे। भोजन के समय भोजन-कक्ष के चार विभाग हो जाते थे। लड़के और लड़कियाँ अलग-अलग बैठते थे तथा निरामिष भोजी और आमिष भोजी भी अलग-अलग। अधिकांश तो आमिष भोजी ही थे; इनमें भी ज्यादा बंगाली थे। बंगाली निरामिष भोजी बहुत कम होते हैं और मछली खूब खाते हैं।

मैं हमेशा निरामिष भोजन करती थी। एसेक्स में हमारा छोटा-सा फार्म था। एक गाय थी, कुछ सुअर थे और मुर्गियाँ थीं। मैं उन जानवरों की

देखभाल में हिस्सा लिया करती थी, इसलिए स्वाभाविकतया उनमे मुझे ममत्व हो गया था। मुझे इस बात का बड़ा दुःख था कि हमारे भोजन में माँस बहुत ज़रूरी था। मेरा खयाल है कि ऐसी जगह में, जहाँ मेरे चारों ओर सब लोग आमिष भोजी ही थे मैं माँस खाना बन्द नहीं कर सकती थी, परन्तु भारत में जहाँ निरामिष भोजन इतना प्रचलित है, मुझे अपनी आदत बदलने में बहुत आसानी हुई।

यह हमारी इच्छा पर था कि हम चपातियाँ लें या चावल। पंजाबी दूसरे उत्तर भारतीय और मैं चपातियाँ लेते थे। चावल बंगालियों और दक्षिण भारतीयों का मुख्य भोजन है। इनके साथ आलू का एक शाक, साधारणतया एक हरी सब्जी, दाल और दही की शक्कर मिली चीज़ें मिलती थीं। दही की इन मीठी चीज़ों को खाते तो मै अघाती नहीं थी। साल के कुछ मौसमों में जब कि बाज़ार में कोई एक शाक बहुत और सस्ता मिलता था, तब रोज़-रोज़ वही शाक बनता था, और कुछ हफ़्तों बाद वह लगभग गायब हो जाता था। गोभी, पालक, बैंगन, भिंडी, टमाटर, प्याज, लौकी और सदासुहागन आलू हमें खाने को मिलते। यद्यपि बहुत-सी लड़कियाँ कहती थीं कि उनके घर के खाने की तुलना में यहाँ का खाना बहुत खराब होता था, तथापि मुझे यह बहुत अच्छा लगता था।

भोजन के बाद दो-तीन घण्टे आराम और पढ़ने का समय होता था और बहुत-सी लड़कियों की तरह मैं इस समय सोती थी और किसी-न-किसी तरह तीसरे पहर की अपनी क्लास के लिए उठ जाती थी। मेरी क्लासें काफ़ी देर तक चला करती थी।

क्लासों के बाद दो घण्टे खेल होते थे। कुछ लड़कियाँ खेल खेला करती थीं, कुछ दुकानों पर जातीं, कुछ टहलने निकल जातीं या आवास की सीढ़ियों पर बैठ कर बातें किया करतीं।

मुझे दिन के इस सुहाने समय में, जबकि बादल-विहीन नीला आसमान पश्चिम में नारंगी रंग में खिल उठता था, अपनी सहेलियों के साथ घूमना बहुत अच्छा लगता था। खेलों में भी आनन्द आता था। हम लोग बास्केट-बाल से मिलता-जुलता एक खेल, "नेट-बाल" खेला करते थे, जो मैंने दिल्ली पब्लिक स्कूल में सीखा था। इसके अलावा "रिंगटॉस" और "थ्रो-बॉल" भी, जो

"वालीबॉल" जैसा होता था, खेला करते थे।

७ बजे हमें हाज़िरी के लिए छात्रा-वास पहुँचना पडता था। उसके बाद हम पढ़ते थे या नृत्य और वाद्य-वादन का अभ्यास करते थे या लेक्चर, सभा, नाटक आदि देखने जाते थे। लगभग ८-३० बजे भोजन होता था। गाना, बातें और हो-हल्ला ये चीज़ें—जो मेरे ख़याल से लड़कियों के सभी आवासों में पायी जाती हैं, खत्म होने पर हम जल्दी-से-जल्दी सो जाते थे।

बुधवार को शान्तिनिकेतन में साप्ताहिक छुट्टी रहती थी। विद्यार्थियों को उस रोज अपनी इच्छा के लगभग सभी काम करने की छूट रहती थी। न जाने क्यों शान्तिनिकेतन के बुधवार मुझे बड सुहाने, गर्म और खिली हुई धूपवाले दिनों के ही रूप में याद हैं जिनमें कि मैं पूरी तरह निश्चिन्त हो कर चमकती हुई धूप का आनन्द लिया करती थी। मुझे याद है मुझ पर कपडे धोने का पागलपन-सा सवार था। धुलने के बाद भी उन कपड़ों की सफाई और ताज़गी की खुशबू मुझे बड़ी प्यारी लगती थी; और उस बड़े-से घास के मैदान में कपड़े डालते वक्त जो धूप की गर्मी मैं अपनी पीठ पर महसूस करती थी, वह भी उतनी ही प्यारी लगती थी।

उस दिन मुझे वे सब काम करने का मौका मिलता था जिनकी कि सप्ताह भर उपेक्षा होती रहती थी। अपने कोर्स की किताबें पढ़ने के अलावा मैं बाहरी किताबें पढ लेती थी। कभी-कभी मैं अपनी सहेली विजया से बँगला भी सीखती थी या वह मुझे अपने साथ शान्तिनिकेतन की ही किसी पिकनिक पर ले जाती थी। और अगर मेरा जी कोई काम करने को न चाहता, तो मैं अपनी नींद की ही कमी पूरी कर लेती थी—वास्तव में मेरा यह काम सप्ताह भर में सबसे ज्यादा पिछड जाता था।

हर बुधवार को सुबह मन्दिर में सभी धर्मों की मिली-जुली प्रार्थना होती थी, जिसमें सभी विद्यार्थियों से उपस्थित होने की आशा की जाती थी। मन्दिर की इमारत छोटी और चौकोर थी जिसके कुछ हिस्से खुले हुए थे और कुछ में रंगीन शीशे की खिड़कियाँ थीं। अक्सर मेरे पहुँचने तक इमारत विद्यार्थियों से खचाखच भर चुकी होती थी और कुछ लड़के-लडकियाँ बाहर सीढ़ियों पर बैठे होते थे। प्रार्थना में गायन होता था; फिर प्रार्थना और अन्त में एक पुजारी जी बँगला में भाषण करते थे।

मुझे इतनी बँगला कभी आयी ही नहीं जो मैं प्रार्थना को पूरी तरह समझ पाती। इसलिए मैं कोशिश करके बाहर सीढ़ियों पर अपने बैठने का स्थान बनाती थी। मैं वहाँ बैठकर शान्तिनिकेतन का डाकखाना, उसके पेड़ और मैदान तथा स्कूल के सामने से पास के गाँव को जानेवाली सड़क की कभी-कभास की चहल-पहल देखती थी और अपने विचारों की लगामें ढीली कर देती थी।

अक्सर शान्तिनिकेतन की इमारतों को देखते हुए मैं सोचती थी कि वास्तव में शान्तिनिकेतन सुन्दर नहीं है। शायद विश्वविद्यालय की इमारतें उसे सुन्दर नहीं दीखने देतीं। वे लगभग सब-की-सब पुरानी कंक्रीट और ईंट की बनी एक-या दो-मंज़िली थीं, जिनमें स्थापत्य-कला का ज़रा भी सौन्दर्य न था। रहने के मकान, कार्यालय, पुस्तकालय, संग्रहालय, दुकानें, थियेटर और विश्व-विद्यालय के विभिन्न स्कूल, कला भवन, संगीत भवन, कालेज (जिसकी क्लासें बाहर खुले में लगती थीं), चीनी अध्ययन-भवन, हिन्दी अध्ययन-भवन और स्नातकोत्तर भवन—इन इमारतों में थे।

परन्तु उस जगह अद्भुत शान्ति का वातावरण था। मैदान खूब लम्बे-चौड़े थे। हरियाली खूब थी, दिल्ली के मुक़ाबले में बहुत ही ज्यादा। शान्ति-निकेतन एक चावल उत्पादक क्षेत्र में बसा हुआ है और आप टहलते हुए कुछ ही देर में इस विद्या के सागर से निकल चावलों के खेतों और छोटे-छोटे गाँवों की उर्वर भूमि में पहुँच जाते हैं।

कभी-कभी शाम को किसी मित्र के साथ मैं किसी गाँव तक और खेतों के बीच की मेड़ पर टहलने निकल जाती थी। कहीं-कहीं चावल के खेत मीलों तक चले गये हैं जिनको देखकर असीम विस्तार की भावना पैदा होती है। मुझे वहाँ सौन्दर्य का अनुभव होता था।

टैगोर ने अपने इस प्रिय स्थान के विषय में लिखा है :—

निरवरोध, निर्विकार वातावरण है—इस शान्तिनिकेतन आश्रम के चारों ओर। कहीं-कहीं झाड़ियाँ निकल आयीं हैं, जिनके बीच में उन्नत ताड़ के वृक्ष, काले जामुन के विटप, नन्हें पौधे और चींटियों के घरौंदे दिखाई देते हैं। इन एकाकी खेतों के बीच से एक लाल पतली पगडण्डी क्षितिज के आँचल में बसे गाँव की ओर बलखाती चली गयी है; और इस मार्ग के पथिक हैं बोलपूर के बाज़ार को जानेवाले ग्रामीण। बास

का गट्ठर उठाये संथाल युवतियाँ कभी-कभी उधर से निकल जाती हैं; भार से लदी बैलगाड़ियाँ, जिनके कराहते पहिए दोपहर की धूप में धूल का एक बादल छोड़ देते हैं। बहुत दूर से देखा जा सकता है—इस प्रशान्त स्थली के मध्य निर्वक्र साल वृक्षों का कुंज, जिसके सघन पत्तों के वातायन से किसी पथिक को मंदिर के कलश और भवन के छत के अग्रभाग की झाँकी मिल सकती है। इस आम्र-आमलक कुंज में, साल और महुए के आँचल में बसा है— हमारा शान्तिनिकेतन आश्रम।

टैगोर की कामना के अनुसार यहाँ प्रकृति से तो हमारा निकट का सम्पर्क था, परन्तु ज्यों-ज्यों शान्तिनिकेतन के जीवन से मेरा परिचय बढ़ता गया, त्यों-त्यों मुझे अनुभव होने लगा कि जैसा संसार के और किसी भी विश्वविद्यालय में होता है, वैसे ही विद्यार्थियों और आसपास के गाँवों व नगरवासियों के बीच सम्पर्क का यहाँ भी अभाव था।

मुझे शान्तिनिकेतन ऐसा स्वर्ग मालूम हुआ जिसमें सभी के लिए पर्याप्त भोजन उपलब्ध था; रहने के लिए साफ़-सुथरा स्थान था। किसी को कठिन परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं थी और न इस बात की चिन्ता थी कि अगले वक्त भोजन कहाँ से आयगा? मुझे शान्तिनिकेतन में पूर्ण सुरक्षा का अनुभव हुआ। मैं वहाँ रह सकी इसे मैं अपना सौभाग्य मानती थी। लेकिन हमारे चारों ओर ऐसे लोग रहते थे जिनका जीवन हमसे बहुत भिन्न था, जिन्हें कड़ी मेहनत करनी पड़ती थी, जो हममें से कुछ विद्यार्थियों की तरह थाली का आधा खाना फेंक नहीं सकते थे।

इस वातावरण में मुझे कुछ बेचैनी का अनुभव होता था। अपने चारों तरफ के लोगों को भूलकर इस स्वर्ग के सुख का उपभोग करना आसान न था, जिसमें वे लोग हमारे साथ भाग नहीं ले सकते थे।

बारह

कढ़ाई, संगीत और कलाकौशल

ये विचार—जो मन्दिर में या शाम को घूमते समय मेरे मन में उठते थे, मेरी शिक्षा का एक अंग थे और महत्वपूर्ण अंग थे। परन्तु मेरी शिक्षा का एक और पहलू था जो शायद अधिक महत्वपूर्ण था। मेरा मतलब कालेज तथा संगीत और कला-भवनों की मेरी शिक्षा से है। चूँकि मुझे एक विशेष छात्रा के रूप में प्रवेश मिला था, मैंने ऐसा पाठ्यक्रम चुना था जिसमें कालेज की शिक्षा के साथ कला और संगीत की भी कुछ शिक्षा सम्मिलित थी।

कला-भवन के पाठ्यक्रम में मैं सिर्फ़ काढने–पिरोने की कक्षा में दाखिल हुई। इस विभाग में और भी कई कला-कौशल सिखाये जाते थे—जैसे बुनाई, चमड़े का काम और बाटिक। बाटिक कपड़े पर एक तरह की छपाई का काम होता है। कला-भवन में मुख्यतया भारतीय चित्रकारी, नमूनों और शिल्प पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

कढ़ाई सीखने में मुझे विशेष आनन्द आता था। सप्ताह में दो बार दो-दो घंटे के लिए इसकी कक्षा लगती थी। इसमें पाँच-छः लड़कियाँ और थीं—सब मेरी जैसी नयी। कला-भवन की इमारत के एक फर्नीचर-रहित कमरे में हम फर्श पर बैठती थीं। खुली हुई खिड़कियों से आनेवाली हवा कमरे को ठंडा रखती थी और अपने आरामदेह काम में हमें चैन मिलता था।

हम सबके पास सूती कपड़े का एक-एक बड़ा-सा चौकोर टुकड़ा था। अपने शिक्षक की सहायता से हमने कई महीनों में उसे एक रंगीन नमूने का रूप दिया। शान्तिनिकेतन से विदा होते समय तक मैं ब्लाउजों, मेज़पोशों और दस्तरखानों पर नमूने काढ़ना तथा अपनी सीखी हुई कढ़ाई दूसरों को सिखाना अच्छी तरह जान गयी थी।

संगीत-भवन की दो कक्षाओं में मैंने प्रवेश किया था—एक तबला-वादन की और दूसरी कथकली नृत्य की। तबले की जोड़ी हमेशा एक साथ बजाई जाती हैं। एक का स्वर ऊँचा होता है; इसे दायें हाथ से बजाते हैं। दूसरे का

माध्यम हैं—एक अभिनय अर्थात् मुख पर भाव-प्रदर्शन और दूसरा मुद्राएँ अर्थात् हाथों और उँगलियों का परिचालन; जिसके बिना नृत्य में न कोई अर्थ रहता है, न सौन्दर्य।

तथापि विभिन्न मुद्राओं और उनके तात्पर्य को समझे बिना भी भारतीय नृत्य खासकर कथकली को देखने में आनन्द आता था। मैं अपने अभ्यास के समय भी संगीत भवन की खिड़कियों से नृत्य की विभिन्न कक्षाओं को देखती रहती थी।

कथकली की प्रबलता और लय के कारण मैंने उसे सीखना पसन्द किया। हमारे अध्यापक दक्षिण भारतीय थे, जो बड़ी कुशलता और सुन्दरता के साथ नृत्य किया करते थे। वे परिपूर्णतावादी थे और जल्दी ही मुझसे परेशान हो गये; क्योकि मैं रोज कई घण्टे अभ्यास नहीं कर पाती थी।

कक्षा में तीन लड़कियां और थी। हमारे शिक्षक ने पूजा नामक एक सुन्दर नृत्य से हमारी शिक्षा प्रारम्भ की। हम एक बड़े-से, बीच में उभरे हुए और दोनों सिरों पर बजनेवाले एक वाद्य मृदंग की ताल पर नृत्य करते थे, जिससे बड़ी गम्भीर आवाज निकलती थी। वह बिलकुल नृत्य के अनुसार बजाया जाता था और उसकी ताल से नृत्य के पदसंचालन का संकेत मिलता था। तबले की ही तरह इसकी हर ध्वनि का नाम होता है—जैसे "ते," "रे," "की"। नृत्य के "बोल" हमने ज़बानी याद किये।

लगभग एक महीने बाद हमने विभिन्न मुद्राएँ सीखनी शुरू कीं। कुल मुद्राएं चौबीस होती हैं और हर एक के दो से तीस तक या इससे भी अधिक अर्थ होते हैं। उदाहरण के लिए, पहली मुद्रा "पताका" कहलाती है। इस "पताका" मुद्रा के विभिन्न रूपों से शेर, राजा, सूर्य, हाथी आदि का बोध कराया जाता है। इन्हें याद करना आसान न था। जैसे-जैसे मैं आगे की मुद्राएँ सीखती वैसे-वैसे पहले की सीखी हुई भूलती जाती—किन्तु अच्छे कथकली नर्तक को ऐसी सैकड़ों मुद्राएँ याद रहती हैं।

मेरी अन्य कक्षाएं कालेज में होती थीं। मैंने भारतीय इतिहास, रवीन्द्र-साहित्य (टैगोर की कविताओं, नाटकों और दर्शन का अध्ययन), नागरिक-शास्त्र तथा वनस्पतिशास्त्र चुने थे और कुछ समय के लिए भारतीय कला का इतिहास एवं बँगला भी।

इनमें मेरी सबसे अधिक रुचि भारतीय इतिहास के प्रति थी। हमारे अध्यापक इस विषय के महान विद्वान थे और इस बात के लिए बड़े चिन्तित रहते थे कि उनके छात्र जितना अधिक हो सके उतना अधिक ज्ञान प्राप्त करें। कक्षा के बाद जब लड़के उनसे प्रश्न करते थे, तब उन्हें उनका पूरा-पूरा उत्तर देने में कुछ दूसरे अध्यापकों की प्रवृत्ति के विपरीत बहुत आनन्द आता था।

उन्होंने विषय का आरम्भ एक काफ़ी लम्बी परन्तु ज्ञानवर्द्धक भूमिका से किया, जिसमें भारतीय इतिहास के अभाव, उसके स्रोतों, भारत के भूगोल आदि पर खूब प्रकाश डाला गया था। फिर हमने ईसा के २५०० वर्ष पूर्व से प्रारम्भ होनेवाले भारतीय राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास का अध्ययन किया। विश्वास किया जाता है कि मोहन-जो-दड़ो की, जो अब पश्चिम पाकिस्तान में है, सभ्यता का यही चरम युग था।

भारतीय इतिहास के प्राध्यापक कालेज के अन्य विषयों की तरह इतिहास पर भी भाषण देते थे। दिल्ली पब्लिक स्कूल की क्लासों की तरह यहाँ विचार-विमर्श नहीं होता था और कक्षा में प्रश्न करने के अवसर कम मिलते थे। हम नोट ले लेते थे। ज्यादा जानकारी के लिए हमें पुस्तकालय से पुस्तकें लाकर पढ़ने की सलाह दी जाती थी।

भारतीय इतिहास तथा नागरिक शास्त्र की दो शाखाओं—अर्थ शास्त्र और राजनीति, जो मैंने लिये थे—की कक्षाएँ पेड़ों की छाया में लगती थीं। हम विद्यार्थी फ़र्श पर छोटी-छोटी चटाइयों पर अर्द्धचन्द्राकार बना कर बैठते थे और अध्यापक हमारे सामने बैठते थे। गर्मियों की सुबह की तपन में हवा सुहावनी लगती थी। सर्दियों की ठंड में सूरज की गर्मी सुहावनी लगती थी; और पेड़ों का कोमल मर्मर और पक्षियों का कलरव अत्यंत आनन्ददायक होता था।

भारतीय इतिहास के बाद मुझे टैगोर का साहित्य और दर्शन सबसे अधिक पसन्द था। इस कक्षा में मुख्यतया ग़ैर-बंगाली छात्र होते थे। हमारे अध्यापक, जो टैगोर-साहित्य के पंडित माने जाते थे, ज़ोर देते थे कि चूँकि टैगोर की कुल पाँच प्रतिशत रचनाएँ ही अंग्रेज़ी में अनूदित हुई हैं या लिखी गयी हैं, इसलिए जो लोग सचमुच टैगोर-साहित्य का अध्ययन करना चाहते हैं; उन्हें बँगला सीख कर मूल बँगला में उसका अध्ययन करना चाहिए। मैंने जब शान्तिनिकेतन छोड़ा, तब तक मैं इतनी ही बँगला सीख पायी थी कि बँगला भाषा की सरल

कविताएँ पढ़ और समझ सकूँ।

अपने अध्यापक के मुख से बँगला कविताओं के पाठ को सुनने में बड़ा आनन्द आता था। वे संगीतमय होती थीं—लय से पूर्ण, कोमल और प्रवाहमय। मेरा ख़याल है कि टैगोर की कविताओं का अधिकांश अंग्रेज़ी अनुवाद भी सुन्दर है। (यद्यपि आमतौर पर मैं कविताओं की भक्त नहीं हूँ) अपनी पसन्द की एक कविता मैं यहाँ प्रस्तुत करती हूँ।

चैत्र की दावाग्नि वन-वन विचरण करती हुई,
कोने-कोने से पत्तियों और फूलों में अपनी आभा प्रकट करती है।
आकाश रंगों से उमड़ा पड़ता है,
पवन संगीत से उन्मत्त है।
झंझावात से झकझोरी हुई वनस्थली की शाखाएँ
हमारे रक्त में भी अपनी हलचल का संचार करती हैं।
हवा हर्षोल्लास से दिग्भ्रान्त है
और समीर शीघ्रता से एक फूल से दूसरे फूल के पास जाकर
उसका नाम पूछ रहा है।

रवीन्द्र साहित्य की कक्षा में थोड़े-से ही छात्र थे—एक पंजाबी लड़की, एक अमरीकी लड़का, एक लंका का छात्र, एक दक्षिण भारत का, केनिया का ओकेलो और मैं। अपराह्न में कक्षा लगती थी और हममें से अधिकांश के लिए दिन की अन्तिम कक्षा होती थी। इसलिए अक्सर हम लोग बैठ कर घण्टों बातें करते और कभी-कभी इन बातों में विषय तो कहीं-का-कहीं छूट जाता। इस कक्षा में और सब कक्षाओं से अधिक घनिष्ठता रहती थी। हम में से हर एक बारी-बारी से पढ़ता था। फिर प्रश्न पूछे जाते थे और विचार-विमर्श होता था।

कक्षा एक इमारत की बरसाती में लगती थी, जिसके पास कालेज के दफ़्तर और पास के होस्टल में रहनेवाले छात्रों के अध्ययन-कक्ष थे। उसके इतनी निकट एक चाय की दुकान थी कि चायवाले को पुकारा जा सकता था। कक्षा के बाद रोज़ विचार-विनिमय के दौरान में हम आपस में सबके लिए चाय मंगा लेते थे; फिर शायद समय के साथ उसके दौर भी बढ़ते रहते थे।

हमारे अध्यापक अशोक दा एक विभूति थे—दया और सौख्य की प्रतिमूर्ति। फुरसत के समय गद्य या पद्य समझने में वे मेरी सहायता करते थे। मेरे विश्व-विद्यालय छोड़ने पर जब उन्होंने तथा कक्षा के दूसरे छात्रो ने टैगोर की तीन पुस्तकें—दो बँगला और एक अँग्रेज़ी भाषा की, मुझे भेंट कीं तो मुझे अपार हर्ष हुआ।

मेरे अन्य विषय— वनस्पतिशास्त्र और नागरिक शास्त्र, मेरे ख़याल से वैसे ही थे जैसे दुनिया के किसी भी हिस्से में ये होते हैं। वनस्पति शास्त्र की कक्षा एक सुसज्जित प्रयोगशाला मे सप्ताह में चार-पाँच बार लगती थी। कक्षा में लगभग बीस लड़के-लड़कियाँ प्रथम वर्ष के छात्र थे। उनमें से अधिकांश को अँग्रेज़ी मामूली ही आती थी। इसलिए अक्सर वनस्पति शास्त्र के अध्यापक बँगला भाषा मे शिक्षा दिया करते थे। नागरिक शास्त्र के दोनों अनुविषय—अर्थ-शास्त्र और राजनीति मे भी भाषा की यही समस्या थी। किन्तु हमारी पाठ्य-पुस्तके अंग्रेजी में थीं; क्योंकि अब तक बंगला या दूसरी भारतीय भाषाओ मे ये पुस्तके बहुत कम छपी हैं।

मेरे अर्थशास्त्र के अध्यापक, जिनसे मेरा बहुत मतभेद रहता था, अमरीका को पूँजीवादी देश कहते थे और फिर पूँजीवाद के लक्षण इन निम्न-लिखित पूर्वाग्रह-पूर्ण शब्दों में बयान करते थे :—

(१) वहाँ निजी सम्पत्ति होती है।
(२) उत्पादन मुनाफ़े के उद्देश्य से होता है।
(३) कोई गाँव आत्म-निर्भर नहीं होता।
(४) आय मे भारी विषमता रहती है; धनी बहुत कम और निर्धन बहुत अधिक होते हैं।
(५) यह पूँजी के मालिकों की इच्छा पर निर्भर करता है कि कब, कैसे और किस चीज़ का उत्पादन करें।

हमारी अर्थ-शास्त्र की पुस्तकों में लिखा था :—

पूँजीवाद की बुराइयों के कारण सोवियत रूस में उसका अन्त हुआ। वहाँ अब मजदूर वर्ग का शासन है, जिसने उत्पादन की समाजवादी व्यवस्था कायम की है। समाजवाद के अन्तर्गत एक पूँजीपति मजदूरों को नौकर नहीं रखता बल्कि उनको राज्य काम देता है, जो उत्पादन के सारे साधनों का स्वामी होता है और एक सुनियोजित योजना

के अनुसार उनका संचालन करता है। उत्पादन से होनेवाली प्राप्ति..... ..समानता के आधार पर लोगों को बाँटी जाती है।

एक रात हमारे अर्थ-शास्त्र के अध्यापक ने अमरीका की अर्थ-व्यवस्था के विषय में विश्वविद्यालय के छात्रों के सामने भाषण दिया। सौभाग्य से भाषण के बाद प्रश्नों के लिए समय रखा गया था। उसमें दो अमरीकी लड़कों में से एक ने उन ग़लतफ़हमियों को दूर किया, जो मेरे अध्यापक ने पैदा कर दी थीं।

मुझे शान्तिनिकेतन में ऐसी अमरीका विरोधी भावना बहुत कम देखने को मिली, परन्तु भारत के विभिन्न भागों में भारतीय विश्वविद्यालयों के छात्रो के साथ अपने सम्पर्क से मेरे पिता को मालूम हुआ कि बहुत-से छात्र अमरीका की अर्थ-व्यवस्था और अमरीकी सरकार की विदेश-नीति को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। पश्चिमी उपनिवेशवाद के उनके लम्बे और कड़वे अनुभव को देखते हुए उनका यह सन्देह उचित ही है और अकारण नहीं कहा जा सकता। फिर भी, मेरे पिता ने अनुभव किया कि अधिकांश मामलों में ग़लतफ़हमी और अपूर्ण ज्ञान ने उनके विचारों पर रंग चढ़ा दिया था तथा वे सच्ची जानकारी हासिल करने को उत्सुक थे। मेरे पिता ने उन्हें असली जानकारी करायी।

किन्तु शान्तिनिकेतन में लड़कियाँ अधिकतर इन विषयों की चर्चा नही करती थीं और शायद इन पर विचार भी नही करती थीं। मेरा ख़याल है कि अगर लड़कों से मेरी ज़्यादा जान-पहचान होती, तो उनके विचार कुछ भिन्न ही निकलते।

अमरीका के विषय में उनके विचार कुछ भी हों, उसके विषय में जो कुछ भी उन्हें ज्ञात था, उसे वे पसन्द करते हों या नापसन्द; लेकिन, मैं समझती हूँ कि इन बातों ने मेरे प्रति उन छात्रों के रुख़ को किसी तरह प्रभावित नही किया। नलिनी शान्तिनिकेतन की मेरी सबसे घनिष्ठ सहेली थी। अमरीकी सरकार की नीतियों की ईमानदारी के प्रति अपना सन्देह और अमरीकी जनता के प्रति अपने साधारण अविश्वास को उसने मुझसे प्रकट किया।

चूँकि नलिनी ने अपनी धारणा शान्तिनिकेतन आनेवाले उन थोड़े-से अमरीकी लोगों को देखकर बनायी थी, जिन्हें उसने भी माना कि, हमेशा अमरीका का सच्चा प्रतिनिधि नहीं माना जा सकता। इसलिए मैंने उससे अमरीका-

विरोधी न बनने का आग्रह किया। मेरा विचार है कि उसे अपने देशवासियों पर, विशेषकर अर्थशास्त्र के हमारे अमरीका-विरोधी अध्यापक के समान देश-वासियों पर—गहरा विश्वास था। उन पर सन्देह करना उसके लिए सहज न था। विदेशियों पर सन्देह करना फिर भी आसान था।

१९५२ के सितम्बर में नलिनी ने मुझसे कहा कि अमरीका में भारत के प्रति जो सद्भावना का सागर उमड़ पड़ा है, उस पर उसे सन्देह है। उसकी समझ में नहीं आता था कि अमरीकी सरकार इतनी सहायता क्यों दे रही है? उसका ख़याल था कि सद्भावना के अतिरिक्त इसका कोई गुप्त कारण होना चाहिए। उसे सन्देह था कि वास्तव में अमरीका चाहता है कि अगर तीसरा महायुद्ध हो तो उसमें भारत उसका साथ दे। नलिनी का मत था कि अगर यही वह अतिरिक्त कारण था, तो अमरीका स्पष्ट रूप से उसे स्वीकार क्यों नहीं करता?

एक बार उसने हमारे देश की हब्शी-विरोधी भावना की चर्चा की। उसने कहा—"वहाँ पिछले वर्ष सौ से अधिक मारपीट की घटनाएँ हुईं।" वह मेरी इस बात पर विश्वास करने को तैयार नहीं थी कि ऐसी घटनाएँ तेज़ी से अतीत की बातें बनती जा रही हैं। कम्यूनिस्ट भी तो एशियाई छात्रों में ऐसी झूठी बातें फैलाने में कोई कसर नहीं रखते।

तेरह

नयी सहेलियाँ

शान्ति-निकेतन में मेरा दूसरा महीना गुज़रते-गुज़रते मुझे जान पड़ने लगा कि मेरा उत्साह घट रहा है। मैंने आशा की थी कि शान्ति-निकेतन में लड़कियाँ (और नहीं तो केवल इसी कारण कि वे शान्ति के निकेतन में रहती हैं) शान्त, सीधी-सादी और परिश्रमी होंगी। परन्तु मुझे शीघ्र ही पता चल गया कि लड़कियाँ जहाँ भी जमा होती हैं, चाहे अमरीका में हों चाहे भारत में, साधारणतया वे एक जैसी ही होती हैं। शान्ति-निकेतन ने इस मामले

में ऐसा निरालापन नहीं दिखाया, जिसकी कि मैंने आशा की थी।

तथापि यह निराशा, जो कला-भवन के छात्रावास की लड़कियों की निश्चलता और वाचालता से पैदा हुई थी, अधिक नहीं टिकी। शान्ति-निकेतन की बहुत-सी स्मृतियाँ मेरे मस्तिष्क में हैं—अपनी अनेक सहेलियों की और उनके साथ गुज़रे हुए अपने आनन्दमय समय की। इन स्मृतियों की तुलना में यह निराशा नगण्य ही है।

कला-भवन के छात्रावास में भारत के लगभग सभी प्रान्तों की लड़कियाँ थीं। कम-से-कम एक-तिहाई तो कलकत्ते और पश्चिम बंगाल के दूसरे हिस्सों की थीं। फिर काश्मीर की लड़कियाँ थीं; पंजाब की थीं, दिल्ली, उत्तर-प्रदेश, मध्यभारत, बम्बई, हैदराबाद और आसाम की थीं। दो लडकियाँ लंका की थीं। समीरा इराक़ की थी; और एडना, जो संगीत और नृत्य सीखती थी, अमरीका की थी।

आमतौर पर वहाँ बँगला भाषा सुनने को मिलती थी। फिर भी मेरे-जैसे ग़ैर-बंगाली, जिनसे बँगला सीखने का आग्रह भी किया जाता था, बँगला बहुत कम जानते थे। वे आपस में तो हिन्दी या अंग्रेज़ी में बातें करते थे और बंगालियों के साथ अंग्रेज़ी में।

लड़कियाँ आमतौर से बड़ी आकर्षक थीं। उनके सुडौल नाक-नक़्श, स्निग्ध त्वचा, काली गहरी आँखें, स्वच्छ दन्तावलि और सुन्दर सघन काले बाल, जो तेल से चमकते और चोटियों में गुथे हुए होते थे। अधिकांश लड़कियाँ छरहरे शरीर की और सुन्दर थीं।

उनका पहनावा—साधारण सूती साड़ी और ब्लाउज़—बिल्कुल सादा होता था, परन्तु गौरवपूर्ण। साड़ियाँ सफ़ेद या हल्के हरे, नीले, गुलाबी, पीले या बैंगनी रंग की होती थीं, जो उनके गेहुँए रंग पर फ़बती थीं। कुछ लड़कियाँ सादी चप्पलें पहनती थीं—अधिकांश नंगे पैर घूमती थीं।

भारतीय युवती का शृंगार बहुत श्रम-साध्य होता है। बालों में तेल डालना, कंघी करना और चोटी गूँथना ही बहुत कठिन होता है। कई लड़कियाँ आँखों का सौन्दर्य निखारने के लिए काजल लगाती थीं। कुछ माथे पर लाल बिन्दी लगाती थीं और विवाहित बंगाली लड़कियाँ माँग में सिन्दूर भरती थीं। यह सच है कि दर्पण देखने में भारतीय लड़की उतना ही समय लगाती है, जितना

कोई अमरीकी लड़की। परन्तु भारतीय युवतियों में एक ताज़गी और सादगी के दर्शन होते हैं। कारण चाहे जो भी हो, आपको भान होता है कि जो सौन्दर्य उनमें दिखायी देता है वह पूर्णतया उनका अपना है।

थोड़े ही समय में छात्रावास ने मुझे अपने परिवार का अंग बना लिया और मैं अपरिचित व नयी न रही। पहिली भेट में कई लड़कियाँ मुझसे ज़रा भी नहीं खुलीं। लेकिन कुछ ने तुरन्त ही मुझसे प्रेम और मित्रता का सम्बन्ध बना लिया।

इनमें एक थी विजया। मुझे शान्तिनिकेतन की दिनचर्या को अनुकूल बनाने में विजया ने मेरी बड़ी सहायता की। हम दोनों सोलह बरस की और छात्रावास में सबसे कम उम्र की थी। चार वर्ष के कला के पाठ्यक्रम में उसका पहला वर्ष था।

विजया का घर कलकत्ते मे था और उसकी मातृभाषा बँगला थी। वह अंग्रेज़ी और हिन्दी भी बोलती थी। अपने शुरू के दिनों में एक दिन संध्या को मैं विजया के साथ काफ़ी लम्बी दूर, कलकत्ता उत्तर-पूर्वी बिहार रेलवे लाइन तक घूमने गयी। यह लाइन विश्वविद्यालय की पूर्वी सीमा थी। उस समय विजया ने मुझे बँगला का पहला पाठ पढ़ाया। हम रेल की पटरी से परे पुश्ते पर बैठे थे। तब उसने मुझे बताया कि बँगला हिन्दी तथा अन्य छः-सात भारतीय भाषाओं से कुछ मिलती-जुलती है। क्योंकि संस्कृत ही इन सब भाषाओ की जननी है। संस्कृत भारतीय-यूरोपीय भाषाओं के परिवार की है और अब भारत में बोली नही जाती।

पुश्ते पर बैठना बड़ा भला लग रहा था। हल्की-हल्की हवा चल रही थी और मौसम ठंडा था। जब हम वहाँ बैठे थे तब एक रेलगाड़ी उधर से गुज़री जिसके डिब्बे मुसाफ़िरो से फटे पड़ रहे थे। जब वह फक़-फक़ करती हुई चढ़ाई पर चढ़ रही थी तब हमने अपने हाथ हिलाये।

बरसात का मौसम अभी खत्म नही हुआ था। सुबह तड़के पानी पड़ चुका था। लेकिन अपराह्न में बादल फट गये थे और नीले आसमान में सूरज चमकने लगा था। हम जब लौटे तब सूर्य डूब रहा था।

उसके बाद ऐसी अनेक संध्याएँ मैंने विजया के साथ घूमने में बितायीं। वह बड़ी मस्त थी। उसमें उत्साह भी अपार था। अक्सर उसके बालों में एक सुन्दर फूल लगा रहता था।

कला-भवन के आवास की हर लड़की किसी-न-किसी कारण से मुझे पसन्द थी। विजया को मैं उसके अच्छे स्वभाव और उत्साह के कारण पसन्द करती थी। एक और लड़की थी सोमा, जो मुझे बेहद अच्छी लगती थी, परन्तु उससे मेरी कभी घनिष्ठता न हो सकी। सोमा लंका की थी। उम्र में वह आवास की ज्यादातर लड़कियों से बड़ी थी और कथकली के प्रसिद्ध नर्तक प्रेमकुमार की, जिनका मैं पहले उल्लेख कर चुकी हूँ, पत्नी थी। वह बहुत सुन्दर थी—छरहरा बदन और लम्बा क़द। उसका स्वभाव शांत, मैत्रीपूर्ण और उदार था। मैंने उसे कभी क्रोधित होते हुए नहीं देखा।

परन्तु मेरी सच्ची सहेलियाँ शिक्षा-भवन (कालेज) में थीं। इनमें नलिनी मुझे सबसे अच्छी लगती थी। नलिनी पंजाबी थी—भारी आवाज़, हृष्ट-पुष्ट और आकर्षक। अन्य अनेक लड़कियों के विपरीत वह बड़ी स्वतन्त्र प्रकृति की थी और घूमने- फिरने की शौक़ीन थी। विभाजन के पहले वह अपने परिवार के साथ पश्चिम पंजाब मे रहती थी, जो अब पाकिस्तान में है। १९४७ मे वे लोग भागकर भारत आये थे और दिल्ली में बस गये थे। नलिनी की मातृ-भाषा पंजाबी थी। इसके अतिरिक्त वह अंग्रेज़ी और हिन्दुस्तानी बोलती थी और कुछ बँगला भी, जो उसने शान्तिनिकेतन आने के बाद सीखी थी।

शान्ति-निकेतन में तो यह उसका पहला ही वर्ष था, परन्तु वह तृतीय वर्ष (बी. ए.) की छात्रा थी। मेरी और उसकी कक्षाएँ इकट्ठी होती थीं। गाँवों तथा गाँवों के लोगों के प्रति उसे भी वैसी ही दिलचस्पी थी, जैसी मुझे। शान्ति-निकेतन के हमारे जीवन तथा पास के गाँवों और नगर के जीवन के बीच सम्पर्क का अभाव उसे भी वैसा ही खटकता था, जैसा मुझे।

शान्ति-निकेतन आने के कुछ ही समय बाद एक दिन मैं, नलिनी और विजया—हम तीनों छात्रावास से पश्चिम की ओर घूमने गयीं। श्रीनिकेतन जाने वाली कच्ची सड़क पर हम चल पड़ीं। श्रीनिकेतन शान्तिनिकेतन से लगभग तीन मील दूर, ग्राम-विकास-केन्द्र है। हम एक छिछली झील, पानी से भरे धान के खेतों और विश्वविद्यालय के कुछ भवनों के पास से गुज़रे। कोई एक मील दूर हमारी बायीं तरफ़ एक छोटा-सा गाँव पड़ा, जिसमें आठ-दस छोटी-छोटी फूस के छप्परों से छायी हुई कच्ची झोंपड़ियाँ थीं। धान के खेतों के नीचे, एक ऊँचे-से टीले पर वे स्थित थीं। बरसात का मौसम था। हम गाँव के अंदर

उसकी एकमात्र गली में चली जा रही थीं कि पानी पड़ने लगा। हमने एक ठिगने क़द और साँवले रंग की औरत से उसके आँगन के छप्पर में शरण लेने की अनुमति माँगी। "अवश्य" उसने कहा और हम उस छोटी-सी कोठरी में बैठकर पानी के रुकने की बाट देखने लगी।

छप्पर साफ़ और सूखा था। कोने में एक नाँद थी जिस पर एक बछड़ा घास खा रहा था। कच्चे फ़र्श पर लकड़ी का एक हल तथा कई दूसरे औज़ार रखे थे। दीवारों पर और छत के लट्ठों से मूँज की बड़ी-बड़ी टोकरियाँ लटक रही थीं। हमने लगभग आधे घण्टे का समय वहाँ गा कर और बातें करके बिताया और बारिश रुकने पर हम छात्रावास को लौटी।

शान्तिनिकेतन के पास के गाँवों में या तो बंगाली लोग रहते हैं या संथाल। हम संथाल गाँव में पहुँचे थे। यह प्रश्न विवादग्रस्त है कि ठिगने क़द और गहरे रंगवाले संथाल लोगो के पूर्वज द्रविड़ थे या उस आदिवासी दल के थे, जिसके विषय में अनुमान लगाया जाता है कि वह द्रविड़ों से भी पहले भारत में बसा हुआ था। जो भी हो, यह तो ज्ञात हो चुका है कि संथाल भारत के आदिवासियों में से थे, जिन्हें ईसा के २५०० वर्ष पूर्व आर्यों ने आक्रमण करके बिहार, पश्चिम बंगाल और भारत के मध्य भाग में खदेड़ दिया था।

इस तरह बाहरी दुनिया से बिलकुल अलग जगल में रहने के कारण उनका रहन-सहन और उनके कुछ रीति-रिवाज अब तक लगभग ज्यों-के-त्यों चले आ रहे हैं। आज वे भारत की सबसे असभ्य जातियों की गिनती में आते हैं। यह सही है कि शान्तिनिकेतन के आस-पास के संथालो का कुछ समय से बंगाली गाँववालों के साथ निकट सम्पर्क है और श्रीनिकेतन ने जो काम किया है, उससे भी वे प्रभावित हुए हैं। फिर भी उनका एक अलग वर्ग है।

शान्तिनिकेतन छोड़ने के कुछ पहले एक छुट्टी के दिन मैं और नलिनी दोपहर में एक संथाल गाँव में गयीं। उसकी संकड़ी गली और छोटे-छोटे घर लगभग पूरी तरह सूने पड़े थे। कुछ बच्चे धूल में खेल रहे थे और एक घर के चबूतरे पर दो लड़कियाँ धान कूट रही थीं। वे लजाने लगीं, फिर भी उनमें स्नेह था। हम एक दूसरे की भाषा तो समझ नहीं सकतीं थीं, इसलिए इशारों में हमने उन्हें समझाया कि हम उनकी सहायता करना चाहती हैं।

वे धान से भूसी अलग कर रही थीं। उनका तरीक़ा अजीब था। चबूतरे की कच्ची ज़मीन में प्याले की शक्ल का एक छोटा-सा गड्ढा था। उसमें मुट्ठी भर धान डाला जाता था। लकड़ी का एक भारी तख़्ता वहाँ लगा था जिसके एक सिरे पर एक ऐसी चीज़ बनी हुई थी जो गड्ढे में ठीक बैठ जाती थी। यह लकड़ी का तख़्ता एक ओर से ऊपर उठता था तो दूसरी तरफ़ से नीचे जाता था। जब पास के सिरे को नीचे दबाया जाता था तो गड्ढे में बैठनेवाला सिरा ऊपर उठ आता था। छोड़ देने पर वह सिरा धम्म से गड्ढे में गिर जाता था और धान का छिलका टूट जाता था। काम बहुत मेहनत का था।

शेष घर बन्द थे और उनमें ताले पड़े थे। जो थोड़े-से खुले थे उनमें से एक में हमने एक अधेड़ औरत को आँगन में धान पीसते देखा। उसका नन्हा नाती पास ही खेल रहा था। हमने बँगला भाषा में उससे पीने को पानी माँगा और जब उसने उसी भाषा में उत्तर दिया तो हम चकित हो गयीं। वह बोली कि उसने अपने घर के मर्दों से मामूली बँगला सीखी थी। घर के कुछ मर्द धान के खेतों में काम न रहने पर बंगालियों और बिहारियों के साथ मज़दूरी किया करते हैं।

उसका घर साफ़ और ठंडा था। उसमें खिड़कियाँ न थीं इसलिए अंदर अंधेरा था। वह पीने का पानी मिट्टी के एक घड़े में रखती थी। घड़े पर चित्रकारी की गयी थी।

हमने पूछा कि गाँव के सब लोग कहाँ गये? उसने बताया कि अधिकांश लोग बोलपुर के बाज़ार गये हैं। कुछ जो मज़दूरी करते थे, काम पर गये थे। उसका स्वभाव बड़ा मधुर था और हमारा साथ पा कर वह बहुत खुश हुई। परन्तु थोड़ी ही देर में हम चल दीं और सुर्ख तथा धूप से तपे खेतों में होकर धीरे-धीरे अपने रास्ते लौटीं।

शान्तिनिकेतन में मेरी एक और घनिष्ठ सहेली थी—मनजीत। वह भी पंजाब की विस्थापित थी। मनजीत का घर पंजाब के उत्तर-पूर्वी कोने में था; भाखड़ा-नंगल नहर के पास जहाँ उसके पिता ओवरसीयर थे।

मनजीत बड़ी शान्त और निष्कपट लड़की थी। वह हाथ की कती-बुनी खादी के कपड़े पहनती थी, जैसे कि सेवाग्राम के लोग पहना करते थे। अपने

घने और रूखे बालों की वह एक लम्बी-सी चोटी बाँधा करती थी।

नलिनी की तरह मनजीत भी देश की सेवा करना चाहती थी। जब मैं गर्मियों में उसके घर गयी, मैंने उसकी माँ को बहुत समझदार पाया। लेकिन कट्टर भी वह पूरी थी। नौ सौ मील की अकेले यात्रा करके स्कूल जाने का विचार उसके लिए स्वाभाविकतया नया और कुछ भय पैदा करनेवाला था। और मनजीत जैसे ख़यालों की लड़की का होना तो और भी अनहोनी बात थी।

मनजीत गाँवों में सामाजिक कार्य करना चाहती थी। वह थी भी इसके उपयुक्त। किन्तु अपनी माँ के विरोध के कारण उसे विश्वास था कि अन्त में उसके जीवन की भी वही गति होगी, जो शान्तिनिकेतन की उसकी सहेलियों की होनी थी—बी. ए. पास करो, शादी करो और फिर घरबार बसा कर अपनी गृहस्थी में लीन हो जाओ।

सर्दियों में कुछ महीने हमने दौड़ने-भागने का अभ्यास किया। आखिरी कक्षा खत्म होने के बाद अंधेरा होने तक अभ्यास चलता था। हमें आशा थी कि जनवरी में हमें शायद अखिल भारत विश्वविद्यालय खेल-कूद प्रतियोगिता में हिस्सा लेने के लिए मद्रास जाने को मिलेगा। इसका मतलब था—दोनों तरफ़ की चौबीस घण्टों से भी ज्यादा समय की यात्रा और दो-तीन रातें मद्रास में रहना। हम इसकी बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रही थीं—एक नये अनुभव और किताबों तथा अध्ययन से छुटकारे के रूप में।

मैं तश्तरी फेंकने का अभ्यास करती थी। (दिल्ली सेकंडरी स्कूल ओलम्पिक में मैं प्रथम आयी थी।) कुछ लड़कियाँ दौड़ने का, कुछ भाला फेंकने और कुछ बल्ली फेंकने का अभ्यास करती थीं। दुर्भाग्य से हमारे प्रबन्धकों को हमारे अभ्यास से दिलचस्पी नहीं थी; यद्यपि हममें और हमारे सिखानेवाले में उत्साह कूट-कूट कर भरा था। और जब मद्रास जाने का समय आया तो हमारे इतने कड़े परिश्रम के उपरान्त भी हमसे कहा गया कि हम जाने नहीं पाएँगी।

भागने का अभ्यास करनेवाली दूसरी दो लड़कियों में एक थी दीपाली, जिसके मैं बहुत निकट आयी। हम दोनों रोज़ साथ अभ्यास करती थीं। फिर जब मैं तश्तरी फेंकने का अभ्यास करती, तब वह दौड़ शुरू करने का। एक लड़के से अपने भागने का समय नोट करवाती और उसको उसके अभ्यास में सहायता देती।

दीपाली कालज में दूसरे वर्ष की छात्रा थी और उसका साथ बड़ा आनन्द-दायक होता था। मद्रास का कार्यक्रम स्थगित होनेपर हम दोनों को बहुत निराशा हुई। परन्तु जो चार लड़के जा रहे थे, उन्हें हम बोलपुर स्टेशन पर पहुँचाने गयीं। हमने उनको फूलों के हार पहनाये और उनके लिए विजय की शुभकामनाएँ प्रकट कीं। प्रतियोगिता समाप्त होते ही उन्होंने तार से हमें सूचना दी कि उनमें से किसी ने खेल-कूदों में तो कोई नाम नहीं किया लेकिन वे वहाँ आनन्द जरूर मना रहे थे।

हमारे शिक्षक सुबोध बड़े फुर्तीले और आकर्षक व्यक्ति थे। अपनी सामर्थ्य-भर हमें अच्छी-से-अच्छी शिक्षा देने की उन्हें लगन रहती थी। उन्होंने मुझे और दीपाली को ऐसी प्रेरणा दी कि कुछ समय के लिए हम रोज सुबह चार-साढ़े-चार बजे उठने और छात्रावास की छत पर जा कर व्यायाम करने लगीं। वह समय बड़ा सुहावना होता था। जब हम उठती तब अँधेरा होता था और नाश्ते के वक्त तक दिन निकल आता था। लेकिन इतनी जल्दी उठने के कारण दोपहर के भोजन के समय तक हम बुरी तरह थक जाती थीं। इसलिए कुछ समय के बाद मैंने और दीपाली ने यह क्रम बन्द कर दिया।

कुछ छोटी-छोटी लड़कियाँ हमारी प्रशंसक भी थीं, जो अक्सर हमसे कोई-न-कोई मदद माँगा करती थीं। इनमें एक थी मिष्टुनी, जो ज्यादा छोटी तो नहीं, तेरह बरस की थी और माध्यमिक स्कूल में पढ़ती थी। उसके पिता विश्वविद्यालय के सहायक रजिस्ट्रार थे और शान्तिनिकेतन में ही उनका घर था। मिष्टुनी की माँ उमा दी फ़ुरसत के समय दस्तकारी किया करती थीं और उनका छोटा-सा घर हाथ के बुने कपड़ों, कढ़ाई के काम और बाटिक के नमूनों से सजा हुआ था।

मैं बाटिक सीखने को बहुत उत्सुक थी। उमा दी ने मुझे सिखाने का भार लिया। इसलिए कोई एक महीने तक मैं लगभग रोज ही अपराह्न में या शाम को मिष्टुनी के घर जाती। फ़र्श पर बैठ कर हम साथ-साथ बाटिक का काम और बातें करतीं। (चूँकि मिष्टुनी अंग्रेजी कम जानती थी और मुझे बँगला अधिक नहीं आती थी इसलिए हमारी बातें सीमित ही हुआ करती थीं।)

मिष्टुनी ने दो रूमाल बनाये और मैंने एक बड़ा-सा मेज़पोश और कुछ छोटे-छोटे दस्तरख़ान बनाये। उमा दी ने तरीक़ा सिखा देने के बाद मुझे किसी

भी समय उनके घर आकर बाटिक का काम करने की अनुमति दे दी। इसलिए कुछ समय के लिए मैं उनके परिवार की एक स्थायी सदस्या की तरह बन गयी।

बाटिक के काम के लिए हम हल्के रंग के सादे कपड़े पर पहिले कोई नमूना बना लेती थीं। नमूना दो या तीन रंग का होता था। जैसे, मैंने जो मेज़पोश बनाया उसमें सफेद, पीला और नीला रंग लगा था। जो हिस्सा सफ़ेद छोड़ना था उस पर पहिले मैंने मोम लगा दिया। फिर मोम छुटाये बिना कपड़ा पीला रंग लिया। कपड़ा जब सूख गया तब मैंने उन हिस्सों पर भी मोम लगा दिया, जिन्हें पीला रखना था। अब सारे कपड़े को नीला रंग कर मोम छुटा दिया। इस काम को करने में बड़ा आनन्द आता था और काम बहुत सुन्दर होता था।

मिष्टुनी की तीन बहने थी। एक जो उन दिनों वहाँ नहीं थी दूसरी मधुश्री, बड़ी सुन्दर और गम्भीर थी, जो कालेज में पढती थी। तीसरी टुकु जो बहुत छोटी थी और ऐसी प्यारी तथा खिलाडिन, जैसी कि लाड-प्यार में पलनेवाली छोटी बहनें हुआ करती हैं।

मिष्टुनी और मधुश्री से बिलकुल जुदा किस्म का एक लड़का था—रामप्रवेश। वह इस्पात के नगर, जमशेदपुर का रहनेवाला बिहारी था। मेरा खयाल है कि वह अपने देश के भविष्य के प्रति अनावश्यक रूप से और अत्यधिक निराशावादी था।

उसने एक बार मुझसे कहा—"इतने सारे धनी ज़मींदारों के उच्च सरकारी पदों पर होते हुए भूमि-सुधार का काम बहुत ही मन्द गति से चलेगा। पूर्ण भूमि-सुधार के बिना भारत कभी पूर्ण विकास को प्राप्त नहीं होगा।"

यह सच है कि भारत में भूमि-सुधार की गति धीमी थी। परन्तु प्रवेश के अत्यधिक निराशावाद से मैं किसी भी तरह सहमत नहीं थी। महत्त्व की बात तो यह थी कि भूमि-सुधार के कार्यक्रम आगे बढ़ रहे थे। अब गति भी धीरे-धीरे बढ़ रही है।

यद्यपि उसकी अधिकांश बातों से मैं असहमत थी; फिर भी शायद इसीलिए प्रवेश मुझे पसन्द था कि उसे अपने देश के भविष्य के प्रति चिन्ता थी और इस विषय में वह विचार करता था। जमशेदपुर के इस्पात के कारखाने में वह

मजदूर रह चुका था। भारत के लिए यह बात अजीब थी, क्योंकि वहाँ अधिकांश छात्र शारीरिक श्रम से बचते हैं।

यद्यपि मेरे समय में शान्तिनिकेतन मे अधिकांश छात्र बँगाली थे, तथापि वहाँ भारत के लगभग सभी भागों के ग़ैर-बँगाली थे। इसके अलावा कई छात्र लंका, नेपाल, बर्मा, चीन, इण्डोनेशिया, जर्मनी, तुर्की, इराक, मिस्र और केनिया (अफ्रीका) के भी थे। अधिकांश विदेशी छात्र उत्तर-स्नातक कक्षाओं के थे या अनुसन्धान-विभाग के और हम कालेजवालों की उनसे भेंट बहुत कम होती थी।

अफ्रीका के केनिया का छात्र टामस ओकेलो कालेज में पढ़ता था और मैं उसे बखूबी जान गयी। लम्बा और हृष्ट-पुष्ट युवक था वह। चेहरा आकर्षक और वाणी कोमल तथा मधुर। उसने अपने देश के विषय में मुझे कुछ जानकारी करायी। वह जानकारी इतनी काफ़ी थी कि मैं उस दिन के लिए अधीर हो गयी जब कि मुझे उसके देश जाने का अवसर मिलेगा।

मेरा खयाल है कि विजया, नलिनी. मनजीत, दीपाली, सुबोध, मिष्टुनी, प्रवेश और ओकेलो मेरे सबसे घनिष्ठ मित्र थे। परन्तु शान्तिनिकेतन में और भी कई लोग थे, जिनके काफ़ी निकट मैं आयी और अब उनसे मीलों दूर बैठकर, मैं उन सबको अक्सर याद किया करती हूँ।

चौदह

कक्षा के बाहर

अपने मित्रों के साथ शान्तिनिकेतन के जीवन में परिश्रम-ही-परिश्रम हो और आनन्द न हो ऐसी बात नहीं। वास्तव में मेरा और मेरे साथ के लड़के-लड़कियों का बहुत-सा समय मिल-जुल कर आनन्द मनाने में बीतता था। लगभग प्रतिदिन रात को नाटक, संगीत और नृत्य, विद्वानों के भाषण या स्नेह-सम्मेलन जैसा कोई-न-कोई आयोजन हुआ करता था। कभी-कभी पिकनिक हो जाती थी।

मैं सभी भवनों की छात्रा थी, इसलिए मेरे साथ की लड़कियाँ मुझसे हर भवन के समारोह में भाग लेने का आग्रह करती थी। अतः आयोजन चाहे वक्तृता के हों चाहे मनोरंजन कार्यक्रम के, चाहे कला के छात्रों के लिए हो, चाहे संगीत के या कालेज के छात्रों के लिए, मै सबमें शामिल रहती थी।

महीने मे कम-से-कम दो-तीन बार पिकनिक हुआ करती थी। पिकनिक दिन भर की भी होती थी और चाँदनी रातों में भी; अपराह्न में चाय पार्टी होती और सुबह तड़के भी। सबसे बड़ी और बढ़िया पिकनिक का आयोजन एक रोज सितम्बर में कालेज और फैकल्टी के छात्रो के लिए हुआ था। बड़ी गर्मी थी उस दिन।

हम लगभग सौ विद्यार्थी सुबह नाश्ता करके शान्तिनिकेतन के पास से गुज़रनेवाली कच्ची सड़क पर चल पड़े। यह सड़क बोलपुर से गोलपुर के गाँव तक जाती थी। हमें गोलपुर जाना था। सड़क पिछली बरसात में जीर्ण हो चुकी थी। चूँ-चर्र, चूं-चर्र करती हुई बैलगाड़ियों को, जो हमारे पास से निकलीं, चलने में कठिनाई हो रही थी। सड़क के दोनों तरफ़ दूर-दूर तक धान के हरे-हरे खेत बिछे हुए थे, जिनके बीच मे कहीं-कही ताड़ के पेड़ या दो-एक छोटे-छोटे गाँव दीखते थे।

गोलपुर एक छोटा-सा बंगाली कस्बा है—स्वच्छ और सुन्दर। हमने अपनी पिकनिक के लिए स्थल उसकी सीमा पर ही चुना था। एक कुंज में हमने डेरा डाला। पास ही एक छिछली और गन्दी-सी खाड़ी थी। मवेशी उसमें पानी पी रहे थे और भैंसें व गाँव के लड़के उसमे नहा रहे थे।

पहले भोजन बनानेवालों की व्यवस्था हुई। भरे-पूरे रसोईघर में भी भारतीय ढंग का खाना पकाना कोई सहज काम नहीं है; लेकिन हमारे "पाक-शास्त्रियो" ने बढ़िया-से-बढ़िया भोजन तैयार करने का फैसला किया था। एक छायादार जगह में आलू और प्याज के ढेर लगा दिये गये थे। कुछ लड़कियाँ उन्हें छीलने बैठी। कुछ ने चावल धोये और माँस व दाल तैयार करने लगीं। लड़कों ने आग सुलगायी। खाने का सामान और बर्तन स्कूल के रसोईघर से एक बैलगाड़ी में आये थे। उसी गाड़ी में कुछ लड़के कुएँ से पानी लाने गाँव गये।

एक तरफ़ ये तैयारियाँ हो रही थीं, दूसरी तरफ़ कुछ लड़के-लड़कियाँ दल बना कर गाने-बजाने और खेल-कूद में लगे। मैं जब तक अपने हिस्से के प्याज़

छील कर निपटी तब तक रिंगटास, क्रिकेट और गाना-बजाना आदि ज़ोर पकड़ चुके थे। एक दल ताश खेल रहा था। कुछ लडकियाँ नाच-गा रही थीं। एक तरफ़ कुछ लड़के-लड़कियाँ गा रही थीं और कुछ लड़के-लड़कियाँ उनके गाने का आनन्द ले रही थीं। और कुछ लड़के खाड़ी मे तैर रहे थे।

एक लड़की ने जब आखिर पीतल के बडे-से बर्तन पर कलछी बजा-बजाकर खाना पक जाने की सूचना दी, तब हम सबको ज़ोर की भूख लग गयी थी। हम पंक्तियों में घास पर पालथी मार कर बैठ गये। सबके सामने बड़ी-बड़ी पत्तलें रखी थी और तुरन्त ही उन पर गरम-गरम चावल, दाल, प्याज़ और आलू परोस दिये गये। सामिष-भोजियों को माँस भी परोसा गया। फिर आयी बँगला मिठाई—"मिष्टी।" खाने के बाद हमने पत्तलें उठा कर फेंक दी। कौए और बैल उन पर टूट पड़े। हम आराम करने लगे।

अपराह्न में कुछ लड़कों ने वही एक हास्य का कार्यक्रम पेश कर डाला—जिसमें नाच, गान, भाषण और अभिनय सभी कुछ था। हुआ तो सब कुछ बंगला मे, लेकिन उसमें इतनी बेसिर-पैर की बातें थीं कि बंगालियों और ग़ैर-बंगालियों सभी को उसमें बहुत मजा आया। दोपहर का ज़्यादा वक्त इसी में बीता।

दिन की आखिरी घड़ियों में फिर रिंगटास और क्रिकेट हुई। लौटने से ज़रा देर पहले जब सूर्य पश्चिम को रोशन करने के लिए जा रहा था, हमने चाय पी और गाते-बजाते, खुशी-खुशी हम लोगों का जुलूस स्कूल को लौटा। आयोजन हमारे स्कूल के गीत—"आमदेर शान्तिनिकेतन" (हमारा शान्ति-निकेतन) के गायन से समाप्त हुआ। शान्तिनिकेतन में पिकनिकों से ज्यादा समारोह होते थे। समारोह में कुछ भी हो सकता था—नाटक, कोई संस्कार या संगीत या नृत्य। मुझे जो समारोह सब से अधिक पसन्द आया, वह था लोक-नृत्यों और लोक-गीतों का।

जिस भवन में संगीत की सभाएँ लगा करती थीं उसके बीच में एक आँगन है। इमारत की एक बाज़ू पूरी-की-पूरी आँगन की तरफ़ खुली है। यह हिस्सा बड़ा भारी रंगमंच बन जाता है और आँगन में दर्शक बैठते हैं। तारों भरे खुले आकाश के नीचे घास पर हम बैठे। गर्मी की रात थी इसलिए ठंडी-ठंडी हवा बड़ी सुहावनी लग रही थी।

कार्यक्रम में अधिकतर लोक-नृत्य प्रस्तुत किये गये। इनमें भी अधिकांश डडियों के नाच थे, जिसमें बीस या बीस से ज्यादा लड़के-लड़कियाँ भाग लेते है। लड़कियों ने लाल, पीली और नीली रेशमी साड़ियाँ स्कर्ट की तरह बाँध रखी थीं; हल्के रगों की चोलियाँ पहन रखी थी, कंधों पर शाल पड़ी थी। उनके काले-काले चमकदार बालो में बड़े-बड़े लाल और पीले फूल शोभा पा रहे थे। गलों में सुन्दर-सुन्दर फूलों के हार पड़े थे। बीच-बीच मे लड़के भी थे, जो सादे और सफ़ेद वस्त्र पहने थे। सिर पर वे नारंगी रग के साफ़े बाँधे थे और उसी रग के कमरबन्द लपेटे थे।

हर नर्तकी और नर्तकी के पास दो-दो डंडियाँ थीं। संगीत की ताल पर वे या तो अपनी ही डंडियों को एक-दूसरे पर मारते थे या आपस मे एक-दूसरे की डडियों पर। आरम्भ में तो नाच की गति धीमी थी—लेकिन अन्त तक बहुत द्रुत तथा उत्तेजनापूर्ण हो गयो। डंडियो के नाच के भी कई रूप थे। एक कुछ-कुछ हमारे, एक अमरीकी नृत्य जैसा था जिसमें लड़के क़तार बना कर एक ओर घूम जाते थे और लड़कियाँ दूसरी ओर; और उनकी क़तारे आपस में एक-दूसरे को बीच-बीच में काटती हुई गुज़रती थी।

एक आर्केस्ट्रा का भी कार्यक्रम हुआ जिसमें पश्चिमी भारत के पहाड़ी लोगों की एक धुन बजायी गयी। भारतीय शास्त्रीय-सगीत में विभिन्न साज़ों की संगत नहीं होती, लेकिन यह धुन कई साजों की संगत मे उपस्थित की गयी थी। एक सितार था, दो इसराज थे, हार्मोनियम था, बाँसुरी थी, तबला था और ढोलक भी थी।

एक रात को स्नातकोत्तर और अ-भारतीय छात्रों का स्नेह-सम्मेलन हुआ। आस्ट्रेलिया के सिवा सभी महाद्वीपो के छात्र उसमें उपस्थित थे और ससार का कोई भी कोना संभवतः ही छूटा होगा, जिसके गीत तथा कविता हमें उस दिन सुनने को नहीं मिलीं।

सब से पहले दर्शनशास्त्र की एक स्नातकोत्तर बँगाली छात्रा का शास्त्रीय बँगला गायन हुआ। गीत उसने मृदु स्वर में गाया परन्तु शब्द पूर्ण स्पष्ट थे। फिर अफ्रीकी लोक-गीतों की बारी आयी। ये गीत हमें ओकेलो ने सुनाये, जो केनिया का था और कालेज में पढ़ता था। उसके गीतो में बड़ी कोमलता थी; माधुर्य और जीवन था। ये गीत उसने अपने कबीले की भाषा, "लुओ" में गाये।

तुर्की के एक छात्र—गुवान ने एक तुर्की गीत गाया। बाली के एक लम्बे खूबसूरत स्नातकोत्तर विद्यार्थी, मन्त्र ने एक इंडोनेशियाई गाना सुनाया। फिर कुछ और भारतीय गीत हुए। फ्रांसीसी, जर्मन, संस्कृत और बँगला कविताओं के पाठ के बाद अन्त में एक अमरीकी छात्र ने गिटार पर एक बँगला गीत गाया। उसके भारतीय मित्रों ने उसमें बड़ा रस लिया।

सात अगस्त को टैगोर का जन्मदिवस बड़ी गम्भीरता से मनाया जाता है और उस दिन शान्तिनिकेतन में अतिथियों की भीड़ लग जाती है। छः अगस्त को रात के भोजन के बाद बहुत रात गये तक कलाभवन की लड़कियाँ छोटे-छोटे सफ़ेद और पीले फूलों के, जो वे दिन में ही चुन लायी थी, हार गूँथती रही।

समारोहों के लिए सजावट करने का काम हमेशा ही कला के छात्रों को दिया जाता है। इस काम में उन्हें बहुत आनन्द आता था और मुझे उनकी सहायता करने में।

हम छः-सात लड़कियाँ किसी लड़की के कमरे में फ़र्श पर और बिस्तर पर बैठ जातीं। काम भी होता जाता और साथ-साथ गाना और बातें भी। कभी हम फूल उठाकर अपने बालों में खोंस लेतीं और कभी हारों को अपने गले में डाल कर देखतीं।

शान्तिनिकेतन के चन्द्रालोकित प्रांगण में हमारी प्रभात-फेरी ने साढ़े चार बजे प्रस्थान किया। टैगोर-रचित एक गीत-मालिका को हम लोग गुनगुनाते चल रहे थे और उधर निद्रालस प्राची मे तंद्रिल सूर्य निकल रहा था। प्रत्येक पूर्णिमा की ज्योत्स्नापूर्ण रात्रि में ऐसी संगीत-मंडली का आयोजन होता था।

तत्पश्चात् दिन के समय मंदिर में संवत्सरी की पूजा हुई। तीसरे पहर वृक्षारोपण का आयोजन हुआ, जिसमें अतिथियों की उपस्थिति असाधारण थी। शान्तिनिकेतन का इस प्रकार जनाकीर्ण तथा कोलाहलपूर्ण हो जाना अप्राकृतिक था।

सुनिश्चित समय पर मेरे होस्टल की सहेलियों और सहपाठिनियों की एक लम्बी क़तार निकली और जुलूस बना कर भीड़ के बीचो-बीच उस सुरक्षित स्थान पर जा पहुँची, जहाँ पौधे लगाने का संस्कार होने वाला था। ये लड़कियाँ चटकीले पीले रंग की साड़ियाँ और सफ़ेद ब्लाउज़ पहने थीं। सबके हाथ में

छोटे-छोटे पौधे या फूलों के गुच्छे थे।

इस जगह के बीचो-बीच कला के छात्रों ने अल्पना (रंगोली) बनायी थी। अल्पना सुन्दर रेखाकृतियों का चित्र होता है, जो पक्के फ़र्श पर चावल के आटे और पानी के रंगों से बनाया जाता है। अधिकतर वह श्वेत रंग का होता है किन्तु हमारी अल्पना में लाल और पीले रंग भी थे।

पूजा-संस्कार बँगला में कराया गया इसलिए उसे पूरा तो मैं नहीं समझ सकी। परन्तु जितना कुछ भी समझी उसकी सरलता बड़ी आकर्षक और सुन्दर लगी।

भारत के सबसे बड़े नगर कलकत्ते में, जो शान्तिनिकेतन के पास ही है—मैंने जो चार दिन छुट्टी मनायी वह इस शान्त और गम्भीर जीवन से सर्वथा भिन्न थी। जनवरी के अन्त में छुट्टी हुआ करती थी। उसमें मैंने और एक अमरीकी लड़की ने कलकत्ते जाने का निश्चय किया। वह लड़की एंटिओक कालेज की छात्रा थी और कुछ हफ़्तों के लिए शान्तिनिकेतन आयी थी।

शान्तिनिकेतन में जीवन अविश्वसनीय सरल है। ज्योंही हम उसके द्वार से बाहर निकलीं, कई कठिनाइयाँ खड़ी हो गयीं। लेकिन इनका मुकाबिला करना, बाहर निकल कर दुनिया देखना भी अच्छा लगा।

हमें बोलपुर से रेलगाड़ी में सवार होना था। लेकिन स्कूल से स्टेशन कैसे पहुँचें? एक रिक्शावाले ने हमें होस्टल के बाहर अपने बिस्तर और सूटकेस उठाये देख लिया था। अपनी तीन पहियों की साइकिल लिए वह हमारे इन्तज़ार में तैयार खड़ा था।

हम दोनों ने प्रतिज्ञा कर रखी थी कि जो रिक्शा मनुष्य खींचते हैं, उनका हम कभी उपयोग नहीं करेंगे। किसी भी मनुष्य से बोझा ढोनेवाले पशु का काम नहीं लेंगे। लेकिन उस समय कोई चारा न था। समय तो काफ़ी था किन्तु रास्ता लम्बा था और सामान भारी।

मेहनती और हिन्दी-भाषी बिहारी रिक्शावाले के लिए हमारे भाड़े का मतलब था—शाम के समय परिवार के लिए कुछ अधिक भोजन की व्यवस्था। हम सामान के साथ रिक्शा में सवार हो गयीं।

एक बजा था। दोपहर तप रही थी। धूल भरा रास्ता तय करते हुए जो

थोड़े-से लोग पक्की धूलभरी सड़क पर हमें दिखायी दिये वे सब आराम कर रहे थे।

कुछ ही देर में हम बोलपुर के छोटे-से भीड़-भाड़वाले स्टेशन पर पहुँच गये। रिक्शावाले को भाड़ा दिया बड़ी मेहनत की कमाई थी उसकी—और कलकत्ते के तीसरे दर्जे के टिकट ख़रीद कर हम चाय और मिठाई की दुकान पर बैठ कर गाड़ी की राह देखने लगीं।

भारत में रेलगाड़ियों में बहुत ज़्यादा लोग, ख़ास कर विद्यार्थी, तीसरे दर्जे में ही यात्रा करते हैं। कलकत्ते की सौ मील की यात्रा के लिए हमें तीन रुपये या साठ सेंट से भी कुछ कम ख़र्च करना पड़ा।

लगभग एक घण्टे में गाड़ी उदास और धुआँ उड़ाती हुई आ गयी मानो उत्तर के पहाड़ी इलाके के सफ़र से थक गयी हो। हम एक डिब्बे में सवार हुए जो पहले से ही ख़ूब भरा हुआ था। उसमें सोलह मुसाफ़िरों के बैठने की जगह थी; लेकिन बैठनेवालों की संख्या उससे कहीं अधिक थी। उनमें विद्यार्थी थे, व्यापारी थे, बच्चे और औरतें थीं, और एक सिपाही भी था। वहाँ से चल कर गाड़ी रुकती है सिर्फ़ बर्दवान में। यहाँ चोरी-चोरी चावल ले जानेवाले कुछ लोग हमारे डिब्बे में सवार हुए। वे डरे हुए थे।

पुलिस उनकी तलाश में थी। उनका हमारे डिब्बे में आना किसी को अच्छा नहीं लगा। वे शहर को चावल ले जा रहे थे, जहाँ उसे ऊँचे भाव पर बेचेंगे। कलकत्ते पहुँचते-पहुँचते गाड़ी जैसे ही धीमी हुई, वे कूद पड़े और लोगों की नज़र बचाकर ग़ायब हो गये।

मेरी सहेली ज़रा बातूनी थी इसलिए हम संसार की समस्याओं पर चर्चा करने लगीं। कलकत्ते के तीन विद्यार्थी, जो दिन भर के लिए शान्तिनिकेतन गये थे, इस चर्चा में शामिल थे। उनमें एक लड़का पंजाब का था और क़ानून पढ़ रहा था। बाक़ी दोनों डाक्टरी पढ़ रहे थे। इनमें भी एक पंजाबी था और क़ानून के छात्र जैसा ही लम्बा और गोरा था। उस तरफ़ के लोग अक्सर ऐसे ही होते हैं। तीसरा छात्र नेपाल का था। क़द उसका दोनों से छोटा था लेकिन रंग ज़्यादा साफ़ था।

अंधेरा पड़ने ही लगा था कि दूर कलकत्ते की जगमगाती हुई बत्तियाँ दिखायी देने लगीं और हम हुगली नदी का पुल पार करके सियालदा पहुँच गये।

भारत का विभाजन हुए तो पाँच वर्ष बीत गये थे फिर भी पूर्वी पाकिस्तान में साम्प्रदायिक संघर्ष जारी था और उस समय हिन्दू विस्थापित बहुत बड़ी संख्या में पश्चिम बंगाल चले आ रहे थे। भारत पहुँचने पर उनमें से बहुतों के लिए पहले सियालदा स्टेशन ही घर का काम देता था। अपने परिवारों को लिये हुए वे तबतक वहीं फ़र्श पर पड़े रहते थे, जबतक कि सरकार उन्हें शरणार्थी शिविरों या बस्तियों में जगह नही दे देती थी। हम उनके बीच से गुजरते हुए रात की ठंडक में स्टेशन के बाहर आये।

मैं हैरान रह गयी। मुझे लगा जैसे हम न्यूयार्क पहुँच गये हों। गाड़ियाँ, बसें और टैक्सियाँ पों-पों करती हुई भागी जा रही थी, और निओन बत्तियों के साइन-बोर्ड जगमगा रहे थे। बड़ी सड़कों पर शानदार चायघरों और भोजनगृहों की कतारें लगी थीं। इस नगर की विशालता ने मेरी ज़बान में ताला डाल दिया। शान्त और सरल शान्तिनिकेतन एक दूर की चीज़ लगने लगा।

उन तीन छात्रों को वक्त काटने के अलावा कुछ करना नहीं था सो, वे एक टैक्सी करके हमें साल्वेशन आर्मी के होस्टल तक छोड़ने आये। हमने सुना था कि यहाँ रहने और खाने का इन्तज़ाम सस्ते में हो जाता है। व्यवस्था थी भी सस्ती—खाने और रहने के सिर्फ़ तीन रुपये रोज़। कुछ बूढ़ी एँग्लो-इन्डियन औरतें, कुछ नौकरी-पेशा एँग्लो-इन्डियन और चीनी औरतें वहाँ रहती थीं। मेरी सहेली जिस कमरे मे ठहरी उसमें एक पंजाबी मास्टरनी और एक भारतीय नर्स रहती थी। मेरे कमरे में सिर्फ़ एक औरत थी। एँग्लो-इन्डियन, बूढ़ी और गरीब।

होस्टल में ठहरनेवाली एँग्लो-इन्डियन औरतों को—उन अधिकांश एँग्लो-इन्डियनों की तरह, जिनसे मैं दिल्ली में मिल चुकी थी—अपने अंग्रेज़ीपन पर अजीब घमंड था और अंग्रेज़ बनने के लिए वे अपनी शक्तिभर सभी कुछ किया करती थीं। अगर वे भारतीय कपड़े पहनतीं तो भारतीय ही लगतीं और भारतीय समाज उनका स्वागत करता; लेकिन लगता था कि यह उन्हें पसन्द नहीं है। वे ज्यादातर पश्चिमी ढंग के कपड़े पहनती थीं, और बात करती थीं—सिर्फ़ अंग्रेजी में। नये भारत का अंग बनने में उन्हें संकोच होता था।

वे तीनों छात्र यह वादा करके लौट गये कि वे लौटकर हमें शाम का

भोजन कराने ले जायेंगे। कुछ देर में वे आ गये और हमें खाना खाने बड़े ठाठ की जगह ले गये। मैं सादे सूती कपड़े और घिसे-घिसाये जूते पहने थी, जिससे मुझे उस जगह प्रवेश करने में ज़रा लज्जा का अनुभव हुआ। यह भोजन-गृह शिकागो के शानदार कालीनों से ढँके फ़र्शवाले आधुनिक भोजन-गृहों से भिन्न था तो केवल इस बात में कि इसके वेटर साफ़े बाँधे हुए थे और खाने की कुछ चीज़ें और ढंग की थीं।

हमारा छोटा-सा तिमंज़िला होस्टल कलकत्ते की एक बड़ी भीड़-भाड़ वाली सड़क पर था। दिन में हमारी खिड़कियों के नीचे, पैदल चलने की पटरियों पर मर्दों और औरतों की भीड़ लगी रहती थी। लोग या तो चिल्ला-चिल्लाकर छोटी-छोटी दुकानों पर मोल-भाव किया करते थे या जल्दी-जल्दी कदम बढ़ाते हुए और अपने साथियों के साथ शान्ति से दुनिया की हालत पर चर्चा करते हुए अपने काम पर जाते थे।

छोटी-छोटी अंधेरी दुकानों में सुई और कपड़े से लेकर खाना बनाने के बर्तन—सभी कुछ मिलता था। पटरियो पर खुले हुए खोन्चे लगा कर कुछ लोग खाने की तली हुई स्वादिष्ट चीज़ें, बंगाली मिठाइयाँ, फल और मलाई की बर्फ़ बेचा करते थे।

कभी-कभी कोई बैलगाड़ी अपनी धीमी चाल से गुज़र जाती थी। भारी भीड़ में अपना रास्ता बनाने के लिए घंटियाँ बजाती हुई खड़खड़ करती गाड़ियाँ आती-जाती रहती थीं। थके-हारे रिक्शावाले, मुसाफ़िरों की टोह में इधर-उधर निगाह दौड़ाते हुए धीमे-धीमे अपनी साइकिलें चलाते जाते थे। मोटरों को हमेशा जल्दी रहती थी और उनके हार्न बन्द नहीं होते थे।

यहाँ, शान्त शान्तिनिकेतन से कितनी भिन्नता थी। यद्यपि मुझे शान्ति-निकेतन के मन्द गति और नीरव जीवन की याद आती थी; फिर भी जो थोड़े-से दिन कलकत्ते में बीते, जहाँ ज्यादातर लोग शहरी लोगों की तरह जल्दी में ही रहते हैं, उनसे एक तरह से ताजगी ही मिली।

नहीं; यह बात नहीं है कि शान्तिनिकेतन के जीवन में परिश्रम-ही-परिश्रम हो। आनंद भी उतना ही है। मुझे खूब याद है कि १९५३ की फरवरी के अन्त में जिस दिन मैं अपने साथियों और सहेलियों से विदा लेकर दिल्ली को रवाना

हुई, मुझे कितना दुःख हो रहा था।

मुझे तब मालूम हुआ कि मुझे शान्तिनिकेतन के अपने आनन्द-भरे दिन तो याद आयेंगे ही, परन्तु रोज़मर्रा की छोटी-छोटी बातें, क्लास में जाना, पुस्तकालय की शान्ति में किसी किताब की अलमारी के पीछे छिप कर पढ़ना, सीमेंट के स्नानागार में बाल्टी में कपड़े धोना और कपड़ों को धूप में सूखने डालना भी याद आयेगा। बराबर नगे पैर घूमने की स्वतन्त्रता की अजीब-सी अनुभूति भी याद आयेगी—लड़कियों की हँसी-खुशी, उनकी सद्भावना और शायद उनका शोर-गुल भी।

पन्द्रह

प्रगति-पथ के गाँव

फरवरी के अन्त में शान्तिनिकेतन से मैं अपने घर दिल्ली को लौटी। स्टेब, चेट, सैली और सैम स्वदेश जाने के लिए मार्च में भारत से रवाना होने वाले थे। मेरी बड़ी इच्छा थी कि अभी कुछ महीने और भारत में रहकर घूमूँ-फिरूँ तथा गाँवों के जीवन की और जानकारी हासिल करूँ। मेरे माता-पिता ने मुझे इसकी इजाज़त दे दी।

मुझे जुलाई में भारत छोड़ना था। इस तरह मेरे परिवार के प्रस्थान के बाद मुझे तीन महीने से ज्यादा समय मिला। इस अवधि के लिए मुझे मित्रों से अनेक हार्दिक आमंत्रण मिल चुके थे। दिल्ली में भी यूनाइटेड स्टेट्स इन्फ़र्मेशन सर्विस में हमारी एक अमरीकी मित्र—जीन जायस् काम करती थीं। उन्होंने और दिल्ली राज्य की स्वास्थ्य-मंत्रिणी डा० सुशीला नायर ने, जो स्टेब की मित्र थीं, मेरी देखभाल की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले ली।

मार्च १९५३ के अन्त से ज़रा पहले, उत्तर भारत का गर्मी का मौसम शुरू होने के बाद ही मेरा परिवार दिल्ली से रवाना हो गया। प्रशान्त सागर के पार, दूर स्वदेश की यात्रा के लिए उन्हें विदा देने को बहुत-से लोग हवाई-स्थल पर आये थे। जहाज़ घरघराता हुआ ज़मीन से उठा और आकाश की

ऊँचाइयों को छूता हुआ दूर, बहुत दूर उड़ता चला गया। जब तक वह दृष्टि से ओझल नहीं हो गया तब तक हमारी आँखें उस पर गड़ी रहीं।

मैं अकेली रह गयी। लेकिन मित्रों का साथ था और मैं ऐसे देश में थी, जो संसार के अन्यतम मैत्रीपूर्ण देशों में से है। मैं बहुत खुश थी कि मुझे इस देश में, और उन लोगों के साथ, जिन्हें मैं इतना प्यार करने लगी थी, रहने का यह मौका मिला। यह तीन महीने का समय मेरे लिए प्रवास का आनन्दमय समय रहा। मुझे कई भारतीय परिवारों के बीच रहना था—ऐसे परिवारों के बीच जिनका आर्थिक स्तर और धर्म जुदा-जुदा था।

कुछ दिन मुझे पुरानी दिल्ली में अपनी "अस्थाई अभिभावक" सुशीला नायर और उनके परिवार के साथ रहना था। सुशीला बहन गांधीजी की निकटतम शिष्या हैं और बहुत समय तक उनके साथ सेवाग्राम में रह चुकी हैं। भारत के प्रमुख चिकित्सकों में उनकी गिनती है और कई वर्षों तक वे गांधीजी की निजी चिकित्सक भी रह चुकी हैं। मंत्रिणी बनने से पहले कुछ समय के लिए वे दिल्ली के पास एक बड़ी विस्थापित बस्ती में प्रमुख चिकित्सा-अधिकारी रही थीं।

नयी भारतीय-सरकार के अधिकांश अधिकारियों की तरह सुशीला बहन ने भी विदेश में शिक्षा पायी थी। लगभग दो वर्ष अमरीका में रह कर उन्होंने जॉन्स हाप्किन्स विश्वविद्यालय से जन-स्वास्थ्य की मास्टर और डाक्टर की उपाधियाँ पायी थीं।

सुशीला बहन दिन में बहुत व्यस्त रहती थीं; इसलिए उनके साथ रहने के दिनों में, मैं अपना ज़्यादा वक्त अपनी सखी-सहेलियों से मिलने-जुलने, नयी दिल्ली में दवाखाने में काम करने तथा बाज़ार में दुकानों की सजावट देखने में बिताती थी। काम बहुत था और परिवार की याद करने को मेरे पास समय ही नहीं था। सुशीला बहन ने ममतामयी माँ की तरह मुझे रखा। १७, रैटेन्डन रोड का शकूर भी मेरा बहुत ध्यान रखता था। दवाखाने का काम पूरा करके मैं क़रीब-क़रीब रोज उसमें और उसके अहाते में रहनेवाले दूसरे लोगों से मिलने जाती थी।

मार्च खत्म होने तक मैं सुशीला बहन के साथ रही। अब मुझे उत्तर प्रदेश के छोटे-से कस्बे में अमरीकी मिशनरी दम्पति श्री वाइज़र और उनकी पत्नी

के यहाँ जाना था।

शान्तिनिकेतन से लौट कर मैंने अपनी एक अमरीकी दोस्त से इसकी चर्चा की थी। गाँवों के प्रति मेरा आकर्षण देख कर उन्होंने मुझे सलाह दी कि मैं कुछ समय वाइज़र दम्पति और उनके सहयोगियों के साथ रहूँ, जो भारतीय ग्राम-सेवा का संचालन करते हैं।

मेरी मित्र ने मुझसे कहा—"वाइजर-दम्पति दिल्ली से कोई सौ मील दक्षिण-पूर्व, उत्तर प्रदेश के एक छोटे-से कस्बे मढ़ेरा में रहते हैं। तुम्हें अपने यहाँ रखने में उन्हें बड़ी ख़ुशी होगी।" उसने बताया कि मार्च के आख़िर में वह ख़ुद मढ़ेरा जानेवाली है और मुझे अपने साथ ले जायगी। उसने कहा, "इसके अलावा उनका एक साथी लखनऊ के पास एक गाँव में अकेला काम कर रहा है। उसे सप्ताह भर के लिए कोई साथी और सहायक मिलने से हर्ष होगा। तुम मढ़ेरा से वहाँ चली जाना।"

मैंने इस आमत्रण को उत्सुकता से स्वीकार कर लिया था। क्योंकि अपने गाँवों के विकास के लिए भारत तेज़ी से जो प्रयत्न कर रहा है, उसका कुछ भाग मुझे मढेरा में और लखनऊ के पास उस दूसरे गाँव में अपनी आँखों से देखने को मिला। भारतीय ग्राम-सेवा ग़ैर-सरकारी संस्था है; लेकिन वह काम वैसा ही कर रही है, जैसा सारे देश में सरकारी और दूसरे ग़ैर-सरकारी दल कर रहे हैं।

सब बातें हमारी योजना के मुताबिक़ होती गयीं। कुछ ही घण्टों में हम मोटर से मढ़ेरा पहुँच गये। रास्ते के अधिक भाग में दोनों ओर उत्तर प्रदेश के पश्चिमी मैदान के नाज और दालों के हरे-हरे खेत गर्व से लहलहा रहे थे। कटाई शुरू हो चुकी थी इसलिए कुछ खेत खाली पड़े थे। हर जगह गाँवों के लोग फसल काटने और नाज साफ़ करने में लगे थे।

श्रीमती वाइज़र ने तपाक से हमारा स्वागत किया। उन्होंने और श्री वाइज़र ने मुझसे कहा कि इसे अपना ही घर समझो और जो चाहो, करो।

मढ़ेरा उत्तर भारत के कस्बों जैसा ही है, जिसे न बड़ा गाँव कहा जा सकता है, न छोटा शहर। वह दोनों के बीच की बस्ती है। १९४७ में भारत का विभाजन होने से पहले यहाँ ज़्यादातर बस्ती मुसलमानों की थी; लेकिन विभाजन के समय अधिकांश मुसलमान डर कर पाकिस्तान भाग गये। उस वक्त हिन्दुओं

और मुसलमानों को एक दूसरे के विरुद्ध भड़काया जा रहा था और एक अजीब पागलपन के आलम में हिन्दू अपने मुसलमान पड़ोसियों और मुसलमान अपने हिन्दू दोस्तों को मौत के घाट उतार रहे थे।

मुसलमानों को डर अपनी जान का ही नहीं था, वे अपने भवितव्य के लिए भी भयभीत थे, किन्तु यह भय आगे चल कर गलत निकला। बहुतों को डर था कि भारत ऐसा राज्य बन जायगा जिसमें हिन्दुओं का ज़ोर रहेगा और दूसरे धर्मों के लोगों के साथ अन्याय होगा।

मुझे मालूम हुआ कि वास्तव में मढ़ेरा में और उसके आस-पास कोई दंगा-फ़साद नही हुआ। लेकिन जैसा पाकिस्तान में हुआ, उसी प्रकार अधिकांश उत्तर भारत में हज़ारों लोग मारे गये। आज आश्चर्यजनक रूप से हिन्दू, मुसलमान और सिक्ख भारत में मिल-जुल कर और अधिकांश में, शान्ति के साथ रहते हैं। इस आश्चर्य का बहुत कुछ श्रेय प्रधान मंत्री नेहरू को मिलता है, जिन्होंने सभी धर्मावलम्बियों में मेल-जोल पैदा करने के लिए अथक परिश्रम किया है। आज भारत के साढ़े चार करोड़ मुसलमान श्री नेहरू के अन्यतम समर्थकों में से हैं।

मढ़ेरा की गलियों में ईंट के जर्जर मकानों के ऊँचे-ऊँचे मेहराबदार दरवाजे उन दिनों की कहानी सुनाते हैं, जब कम-से-कम एक वर्ग के लोग तो खुशहाल थे ही। श्रीमती वाइज़र की पहचान की एक स्त्री ने, जो मढ़ेरा की ही थी, मुझे बताया कि उसके बचपन में एक ऐसा जमाना था, जब उच्च वर्ग की स्त्रियाँ अपने आँगन से बाहर की ज़मीन पर क़दम नहीं रखती थीं। जहाँ भी उन्हें जाना होता, चार कहार उन्हें अच्छी तरह पर्दों से ढंकी हुई पालकियों में बिठा कर ले जाते थे।

ज़्यादातर लोगों के चले जाने से मढ़ेरा उजाड़ हो गया है। ईंटों से पटी हुई तंग गलियाँ ज़्यादा वक्त सुनसान रहती हैं। सुबह कुछ बच्चे स्कूल को और मर्द काम पर चले जाते हुए दिखाई देते हैं। और सुबह-शाम अज़ान होने पर कुछ मर्द नमाज़ के लिए मसजिद में जाते हुए दिखाई देते हैं। मकानों के दरवाजों पर खुश और मुस्कराता हुआ चेहरा शायद ही कभी दिखायी देता है। इन ईंट की बनी इमारतों से कस्बे में वीरानेपन और बर्बादी की छाया पड़ गयी है।

हाट का दिन ज़रूर अलग होता है। हर गुरुवार को दस्तकार, किसान और ख़रीदार मीलों दूर से आकर क़स्बे के बाहर ही जमा होते हैं। ख़रीद-फरोख़्त के बाद वे तुरन्त ही अपने घरों को नहीं लौटते। कुछ देर दोस्तों के साथ मिल-बैठ कर हँसने-बोलने का उन्हें यह अच्छा मौक़ा मिलता है।

वाइज़र दम्पति मुसलमानों के एक पुराने मकान में रहते थे। उसमें पीछे की तरफ़ आँगन था जो तीन तरफ़ कमरे से घिरा हुआ था और चौथी तरफ़ पड़ोस के मकान की दीवार से। पिछली तरफ़ के जो दो कमरे आँगन में खुलते थे उनमें से एक मुझे मिला था। मैं आँगन में सोती थी। मकान के आगे के हिस्से में सबके उठने-बैठने का कमरा था। पोर्च, वाइज़र-दम्पति के सोने का कमरा और रसोईघर भी उसी हिस्से में था। स्नानागार एक तरफ़ लगा हुआ था।

मकान सादा था और वाइज़र दम्पति ने उसे वैसा ही रहने दिया था। दीवारें जर्जर ईंटों की थीं। पिछवाड़े के कमरों के फ़र्श कच्चे थे। सोने के लिए एक चारपाई मेरे कमरे में पड़ी थी। मैं सोचती थी कि विभाजन से पहले जब कोई मुसलमान परिवार यहाँ रहता था, तब हालत क्या रही होगी ? शायद घर की औरतें अपना ज़्यादा वक़्त पिछवाड़े के इन दो कमरों और आँगन में ही गुज़ारती होंगी; क्योंकि इस इलाके की मुसलमान औरतें सख़्त पर्दा करती हैं। पराये मर्द उनका मुँह न देख पायें इसके लिए वे बिना बुर्क़ा ओढ़े घर से बाहर क़दम नहीं निकालतीं। बुर्क़ा सब कपडों के ऊपर ओढ़ा जाता है। सारा बदन और मुँह उससे ढँक जाता है।

पड़ोस में रहनेवाली दो मुसलमान बहनों से मेरी बड़ी जल्दी दोस्ती हो गयी। एक मेरी उम्र की थी और दूसरी ज़रा बड़ी। एक दिन मैं उनके आँगन में बैठी उनसे बातें कर रही थी कि भिश्ती का लड़का पास के कुएँ से मशक भर कर लाया। जब वह मिट्टी के घड़ों में पानी भरने लगा, उसने आँखों को ढँक लिया ताकि घर की लड़कियों और उनकी माँ पर उसकी नज़र न पड़े।

इन लड़कियों और उनके भाई को अकेलापन बड़ा अखरता था। उनके ज़्यादातर दोस्त पाकिस्तान चले गये थे। घर में या बाहर ऐसी कोई चीज़ न थी जो गृहस्थी के बँधे-बँधाये कामों से परे कोई नयापन पैदा करती। मैंने लड़कियों को बताया कि मैं मढ़ेरा के आसपास के गाँवों में काम करने जाती हूँ। मैंने उनसे कहा कि वे भी अपना कुछ वक़्त इस तरह के काम में क्यों नहीं बितातीं।

मैंने इस बात पर ज़ोर दिया कि मैं औरतों और बच्चों के बीच भी काम करती हूँ। एक शर्मायी हुई मुस्कान उनके मुख पर छायी और उन्होंने मुझे सीधा-सा उत्तर दिया कि उनके यहाँ ऐसा रिवाज नही है।

मढ़ेरा में दो स्कूल हैं—एक प्राथमिक, लड़के और लड़कियों के लिए; दूसरा माध्यमिक केवल लड़कों के लिए। एक छोटा-सा अस्पताल भी है जिसमें सामान पूरा नहीं है।

एक दिन डाक्टर की पत्नी ने अपने अस्पताल के पिछवाड़े वाले मकान में श्रीमती वाइज़र को और मुझे दोपहर की चाय पर बुलाया। चाय पार्टी थी औरतों की। पोस्टमास्टर की पत्नी, स्कूल के अध्यापक की पत्नी और क़स्बे की कुछ और मामूली पढ़ी-लिखी औरतें उसमें आयी थीं। बातचीत थी तो उर्दू मे लेकिन थी वैसी ही, जैसी अमरीका में औरतों की किसी भी पार्टी में आप सुन सकते हैं—किसके यहाँ बच्चा पैदा हुआ है? किसका देहान्त हो गया है? किसकी शादी हुई है? बाज़ार में सब्जी के क्या भाव हैं? वग़ैरह-वग़ैरह।

मढ़ेरा में रह कर मैं एक भारतीय जन-स्वास्थ्य कार्यकर्त्री वायलेट के साथ आस-पास के गाँवों मे काम करती थी। भारतीय ग्राम-सेवा की सात-आठ सहयोगिनियाँ थी। उन्ही में से एक वायलेट थी। हम सुबह जल्दी नाश्ता करके अपनी साइकिलों पर निकल जातीं और पाँच गाँवों में से किसी एक में जाकर काम करती और एक बजे तक लौट आती।

जहाँ हमें ज़रूरत और कुछ सीखने की लगन दिखायी देती, वहाँ हम मदद करती। अगर किसी बच्चे की आँखे दुखती होतीं तो हम उसे आँखों का इलाज करना बताती। अगर कोई लड़की अपने सादे से दुपट्टे पर कढ़ाई करने की इच्छा प्रकट करती तो हम उसे और उसकी सहेलियों को काढना सिखातीं। अगर गाँव में कोई व्यक्ति हाल में—मान लीजिये—मियादी बुख़ार से मर गया होता तो हम बतातीं कि मियादी बुख़ार की रोक-थाम के लिए साफ़-सफ़ाई के क्या क़दम उठाने चाहिए? इसी तरह के कई काम हम किया करती थीं।

यद्यपि भारतीय ग्राम-सेवा को अमरीका का प्रेसबिटेरियन चर्च चलाता है लेकिन दक्षिण भारत के मिशनरी दलों की कार्यवाहियों की तरह, उसकी कार्यवाहियों का ईसाई धर्म से सम्बन्ध इतना ही है कि वे पूर्णतया ईसाई सिद्धांतों पर आधारित हैं। सहयोगी सब-के-सब ईसाई हैं। लेकिन ईसा की चर्चा वे गाँव

वालों द्वारा जिज्ञासा प्रकट किये जाने पर ही करते हैं, या तब करते हैं जब कि किसी विशेष परिस्थिति को बाइबिल के किसी आख्यान से खूब अच्छी तरह समझाया जा सकता हो।

इस संगठन का मुख्य उद्देश्य है—उनकी अपनी, और उनके गाँवों की अधिक-से-अधिक उन्नति के लिए गाँववालों की सहायता करना।

अपने जीवन को बाइबिल के 'दस आदेशों' के साँचे में ढाल कर और ईसाई सिद्धांतों के अनुसार सहायता देकर तथा काम करके इस संगठन के सदस्य ईसाई धर्म के लिए आदर की जितनी भावना पैदा करते हैं, उतनी कोई भी मिशनरी सिर्फ़ धर्म-परिवर्तन पर ज़ोर देकर नहीं कर सकता।

देश भर में जिस तरह ग्राम-विस्तार के कार्यकर्त्ता काम कर रहे हैं, उसी तरह भारतीय ग्राम-सेवा के कार्यकर्त्ताओं ने भी पहले गाँववालों का विश्वास पाने के प्रयत्न किये। फिर उनके खेती के औजारों और तरीक़ों में छोटे-छोटे सुधार करने के प्रयत्न किये और फिर गाँववालों की ही सहायता से सहकारी संस्थाओं, स्वास्थ्य-सेवाओं और स्कूलों की स्थापना के ये अंतिम प्रयत्न तभी किये गये, जब गाँववाले इन संगठनों को सफलतापूर्वक चला सकने के लिए तैयार हो गये।

भारतीय ग्राम-सेवा के गाँवों में बहुत प्रगति हो चुकी थी। वायलेट ने गर्व के साथ मुझे गाँवों में नये सीमेन्ट के कुएँ दिखाये, और गाँवों के बाहर एक ट्यूब वेल (नल-कूप) दिखाया—इस गहरे कुएँ में बिजली का पम्प लगा रहता है, जिसमें चार सौ एकड़ ज़मीन की सिंचाई हो सकती है। उसने मुझे गेहूँ का एक खेत भी दिखाया जिसमें साधारण बीज पुराने तरीक़े से बोया गया था। उसी से लगा हुआ था दूसरा खेत—जिसमें पौधे ज्यादा ऊँचे भी थे और वह भरा हुआ भी ज्यादा था। इसमें ग्राम कार्यकर्त्ताओं का लाया हुआ बढ़िया किस्म का बीज बोया गया था। सुधरी हुई किस्म के बीज के इस्तेमाल से इन्कार करनेवालों की संख्या अगली फसल बोने के समय तक नहीं के बराबर रह गयी थी।

कार्यकर्त्ता धीरे-धीरे काम करने के लिए मजबूर थे। कटाई, बुआई और जुताई के लिए उम्दा मशीनें नहीं थीं। छोटे-मोटे सुधार उन्होंने किये। बैलगाड़ी

का पहिया ज्यादा मजबूत हो और ज्यादा चले, इसके लिए उसमें फ़ौलाद का उपयोग किया गया और गाँव के लोहार को यह भाग बनाना सिखाया गया। कटाई के हँसिये का हत्था इस तरह का बनाया गया कि उसमे नाज के पौधे भूमि के अधिक-से-अधिक निकट तक काटे जा सकें और काटने वाले की उँगलियाँ भी घायल न हों।

गाँव में ऐसे हल बनवाये गये थे, जो वज़न में हल्के थे और धरती को ज्यादा गहराई तक खोद सकते थे। गोबर पहले ईंधन की तरह काम में लाया जाता था। अब गड्ढों में भर कर गोबर की खाद बनायी जाने लगी थी।

यों कहिए कि मेरी मित्र वायलेट तथा बाकी सहयोगियों का काम यह था कि लोगों को उनके काम करने में सहायता दें और जिन गाँवों में भी वे काम करते हों उनकी ज़रूरतों को पूरा करें। वायलेट के काम में हाथ बँटाना मेरे जीवन का एक अद्भुत अनुभव था।

मेरे मढ़ेरा आने के लगभग डेढ़ सप्ताह बाद, अप्रैल के दूसरे सप्ताह में एक दिन श्रीमती वाइज़र ने सब से नजदीक के रेलवे स्टेशन से, जो मढेरा से कोई दस मील दूर था, सुबह तड़के की गाड़ी में मुझे लखनऊ रवाना कर दिया। बरेली में मैंने गाड़ी बदली और संध्या पड़ने से पहले ही मैं लखनऊ पहुँच गयी।

नये बने हुए आधुनिक ढंग के स्टेशन से ताँगा करके मैं इसाबेला थोबर्न कॉलेज गयी। लड़कियों का यह ईसाई मिशनरी कॉलेज नगर के दूसरे छोर पर है। यहाँ मुझे भारतीय ग्राम-सेवा की वह सहयोगिनी मिली, जो लखनऊ के पास फ़तहपुर नामक गाँव में काम करती थी। हमने जो योजना बनायी थी, उसके मुताबिक मुझे एक हफ़्ते उसके साथ रहना था।

हम तुरन्त ही गाँव को चल दिये। गाँव दो मील दूर था। बडी सडक पर कोई एक मील चलने के बाद हम सड़क से हटकर कुछ दूर तक रेल की पटरियों के सहारे-सहारे चले। फिर पेड़ों में होकर कुछ दूर एक पगडंडी पर चलने के बाद हम फ़तहपुर गाँव की गली में आ पहुँचे। सामने मिट्टी के छोटे-छोटे कच्चे मकान दीख रहे थे; हरे खीरों की एक बाड़ी थी और दोनों ओर एक-एक ढेकली-वाला कुआँ था। गली में एक बच्चा खेल रहा था। उसने तुरन्त सब जगह खबर कर दी कि बहनजी लौट आयी हैं। खेतों में काम करनेवाले आदमियों ने

बड़े चाव से उनका अभिवादन किया। छोटे-छोटे बच्चे उन्हें बहुत प्यार करते थे और उन्होंने उन्हें देखते ही खूब खुश होकर चिल्लाना शुरू किया कि "बहनजी आयी हैं, बहनजी आयी हैं!"

बहनजी का घर गाँव के सिरे पर था; जहाँ कि नगर से आनेवाली गली गाँव में प्रवेश करती थी। उनका घर गोबर और मिट्टी का बना हुआ था और फूस से उसे छाया गया था। गाँवों में सभी घर ऐसे होते हैं। यह घर शायद कुछ छोटा था। दो छोटे-छोटे कमरे थे—एक मे दो चारपाइयाँ पड़ी थीं—उसी में बहनजी अपनी किताबें और कपड़े रखती थी, खाने के सामान की आलमारी भी; दूसरे खुले हुए कमरे में हम खाना बनाती और खाती थीं।

छोटी-सी बरसाती गाँव के पुस्तकालय का काम देती थी। बहनजी के पास जो छोटी-छोटी किताबें और पत्रिकाएँ आती थीं, उन्हे पढ़ने के लिए गांव वाले किसी भी समय वहाँ आ सकते थे। बहनजी तो यही चाहती थीं कि वे उन्हें पढ़ें। बरसाती का एक कोना ईंट की एक दीवार बनाकर अलग कर दिया था। उससे गुमलखाने का काम लिया जाता था। गाँव यद्यपि शहर के बहुत पास था फिर भी उसमें बिजली नहीं थी। रात को अँधेरे में लोग मिल-जुलकर बैठते थे और बातें करते थे। कभी-कभी गाना-बजाना भी चलता था। मिट्टी का तेल महँगा था, इसलिए लोग अपनी लालटैन कम ही जलाते थे।

दूसरे दिन तड़के ही बहनजी ने अपना काम शुरू कर दिया। हम पहले ही जिन घरों में गये, उनमें से किसी में कोई औरत बीमार थी। बहनजी ने उसे अस्पताल जाने की सलाह दी, और यह समझ कर कि शायद वह अस्पताल न जाय, उसके लिए नुस्खा भी लिख दिया, जिसकी दवा उस औरत का लड़का शहर से खरीद कर ला सकता था। अगले घर में बहनजी ने एक औरत को उसके नये बच्चे के कपड़े काटने और सीने में मदद दी। एक घर में उन्होंने एक लड़की को कुछ पढ़ाया। सारे गाँव में वे ऐसे ही काम करती रहीं। इस भाईचारे के सम्पर्क के कारण गाँववालों को उनपर भरोसा हो गया था। अब वे जान गये थे कि वे बहनजी पर विश्वास और भरोसा कर सकते हैं और इसलिए बार-बार उनकी सलाह लेने उनके पास आते थे।

साक्षरता के लिए उन्होंने गाँव में जो काम किया वह बहुत सराहनीय है। गाँव में उन्होंने जिस आदमी को पहले-पहल पढ़ना सिखाया, वह अब गाँव के

स्कूल में अध्यापक है और छोटे-छोटे लड़के और लड़कियों को लिखना-पढ़ना और गणित के आसान सवाल सिखाता है। बड़े लड़के लखनऊ शहर में पढ़ने जाते हैं और बड़ी लड़कियाँ, जिन्हें घर के काम-काज से फुर्सत कम मिलती है, अपने खाली वक्त में बहनजी के पास आती हैं।

बहनजी ने इन्हें शिक्षित बनाने के लिए अनेक उपाय अपनाये थे। उनमें से एक यह भी था कि उन्होंने पढ़े-लिखे गाँववालों से सादी और अपनी ही बोल-चाल की भाषा में अपनी कहानियाँ लिखने का आग्रह किया ताकि नये पढ़ना सीखनेवाले उन्हें पढ़ सकें। बहुत-से लोग पढ़ना सीख गये हैं, लेकिन उनके पास पढ़ने के लिए किताबें नही हैं। अब अगर उन्हें ऐसी किताबें न मिलें, जो सरल और आनन्ददायक हों; तो जो कुछ उन्होंने सीखा है, उसे वे भूल जाएंगे।

बहनजी ने सोचा कि अगर गाँव वाले अपनी ही कहानियाँ प्रकाशित करा सकें, तो उन्हें अपनी पढ़ाई-लिखाई पर गर्व भी होगा और दूसरों को लिखना-पढ़ना सीखने के लिए बढ़ावा मिलेगा। इसके अतिरिक्त गाँववालों की अपनी भाषा में उनकी पसन्द के ही विषयों की और उनकी समझ में आनेवाली बहुत-सी किताबें तैयार हो जाएँगी।

हर रोज़ बहनजी और में लगभग १२ बजे खाना खाने के लिए लौट आती थी। दोपहर की गर्मी में हम आराम करती थीं। उस समय अक्सर कुछ औरतें और लड़कियाँ बहनजी से पढ़ने या कपड़े सीने या बातें ही करने के लिए आ जाती थीं। दोपहर ढल जाने पर हम फिर गाँव के घरों में जाकर औरतों से बातें करतीं और उन्हें पढ़ाती थीं। अँधेरा पड़ने पर फिर भोजन करने के लिए आ जाती थीं। इसके बाद अक्सर गाँव के कुछ आदमी बहनजी का रेडियो सुनने आ जाते थे या बच्चे घर के सामने की गली में खेलने लगते थे। रात का स्कूल भी इसी समय लगता था।

गाँव के कुछ लोगों की तो अपनी ज़मीन है। लेकिन अधिकांश लोग दूसरों की ज़मीन पर काम करते हैं। गाँव के थोड़े-से लोग शहर में काम करने जाते हैं। जिन दिनों में वहाँ थी, तब गेहूँ और दालों की फ़सल कट चुकी थी। खीरे, लौकियाँ, काशीफल और टमाटर की लहलहाती हुई फ़सल बाज़ार के लिए तैयार थी।

एक दिन मेरी एक नयी सहेली राजकुमारी ने मुझसे कढ़ाई सिखाने को कहा। हम दोनों उसके पिता के बाग़ के छोर पर सिंचाई के पानी की छोटी-सी नाली के किनारे जाकर बैठ गये। उसे बार-बार उठकर उन चिड़ियों को उड़ाना पड़ता था, जो पके हुए फलों को कुतरने आ जाती थीं।

फ़तहपुर की औरतों को मैंने कढ़ाई सिखाई और उन्होंने मुझे टोकरियाँ बुनना। उनका यह काम इतना सुन्दर होता है जैसा कि मैंने और कहीं नहीं देखा। वे सस्ते रंग खरीद कर पुआल को हरा, पीला और लाल रंग लेती हैं। उन्हें वे सुन्दर-सुन्दर नमूने में बुनती हैं। इन टोकरियों को वे घर में भी इस्तेमाल करती हैं और शादी-विवाह पर या दूसरे समारोहों पर अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों को उपहार में भी देती हैं।

बहनजी में सच्ची लगन थी। वे बहुत मेहनती थीं; उनका हृदय प्रेम से परिपूर्ण था। ईसाई धर्म की सच्ची भावना जितनी मैंने उनमें देखी, उतनी अपनी पहचान के और किसी व्यक्ति में नहीं पायी। मैं चाहती हूँ कि जो भावना उन्होंने फ़तहपुर में पैदा की, वैसी ही भावना भारत के हर गाँव में फैल जाय। यह भावना जीवन के प्रति वह नया दृष्टिकोण है, जिसका निर्माण आगे बढ़ने की इच्छा पर हुआ है।

सोलह

कुएँ का पानी

उत्तर प्रदेश के रायबरेली ज़िले में, लखनऊ से दक्षिण-पूर्व सौ घरों का एक छोटा-सा गाँव है, बरखुरदारपुर। यहाँ न कभी कोई सामाजिक कार्यकर्त्ता रहा है, न कोई कृषि-विशेषज्ञ। यह गाँव किसी ग्राम-विकास कार्यक्रम के क्षेत्र में भी नहीं है। यही वह गाँव है, जिसमें शकूर पैदा हुआ और बड़ा हुआ। यहीं उसका परिवार रहता है।

जब शकूर की पत्नी और उसके चार बच्चे मेरे शान्तिनिकेतन जाने से पहले गाँव से दिल्ली आये थे तब मैं उनसे मिली थी। शकूर की सबसे बड़ी लड़की सबरा बहुत बीमार थी। डॉक्टर से उसका इलाज कराने ये लोग शहर आये थे।

सबरा ठीक हो गयी थी और ये सब लोग सर्दियों भर हमारे मकान के पिछवाड़े शकूर के छोटे-से क्वार्टर में रहे थे। अप्रैल के शुरू में सब अपने गाँव लौट गये; क्योंकि कटाई के काम में सबरा और उसकी माँ की भी ज़रूरत थी। लेकिन सबरा, उसकी माँ, उसके दो भाइयों और उसकी बहन के दिल्ली से लौटने तक तो हमारी अच्छी दोस्ती हो चुकी थी और उन्होंने बड़े प्रेम के साथ मुझे न्योता दिया था कि मैं कुछ दिन बरखुरदारपुर जा कर उनके साथ रहूँ।

फ़तहपुर से—बहनजी के छोटे-से घर से—मैं ताँगा करके लखनऊ स्टेशन पहुँची। वहाँ से मैं जायस जाने के लिए गाड़ी पर सवार हुई। जायस एक बहुत छोटा स्टेशन है। शकूर के गाँव के सबसे निकट यही स्टेशन है। मैं हमेशा की तरह तीसरे दर्जे के ज़नाने डिब्बे में बैठी।

डिब्बा भरा हुआ था। ज़्यादातर औरतें मुसलमान थीं। उत्तर प्रदेश में बहुत-से लोग शकूर और उसके परिवार की तरह मुसलमान हैं। मुसलमान औरतों का रंग अक्सर साफ़ होता है और वे अक्सर सुन्दर होती हैं जैसे कि भारतीय होते हैं। अपनी हिन्दू बहनों से वे पर्दे के सिलसिले में बहुत भिन्न

होती हैं; वे बड़ा सख्त पर्दा करती हैं। अपना बुर्क़ा वे या तो अपने घर के अन्दर उतारती हैं या सिर्फ़ ऐसी जगहों में जहाँ औरतें ही औरतें हों; जैसे कि उस वक्त डिब्बे में।

लखनऊ से जायस की दूरी सौ मील से भी कम है, लेकिन गाड़ी बार-बार रुकती थी और इस यात्रा में लगभग तीन घंटे लग गये। मैंने सब्रा को, जो मुझसे कुछ ही छोटी थी, अपने आने का ख़त लिख दिया था। वह अपने ताऊ और अपनी छोटी बहन कनीज़ के साथ मुझे लेने स्टेशन आयी थी। गाड़ी के स्टेशन में घुसने से पहले ही मैंने उसकी लाल चुन्नी से उसे पहचान लिया। दिल्ली मे वह यह चुन्नी बहुत ओढ़ा करती थी।

हम एक छोटी-सी दो पहियों वाली घोड़ा-गाड़ी में सवार हुए। धूलभरी कच्ची सुनसान सड़क पर कोई तीन मील जाने के बाद, गाड़ी एक सूखे लेकिन हरे-हरे आम्रकुंज में होकर मुड़ी और गाँव जानेवाले बैलगाड़ियों के रास्ते पर चल पड़ी। गाँव लगभग एक मील रह गया था। सूखे खेत हाल में कटाई हो जाने के कारण खाली पडे थे। लगता था कि वे बहुत प्यासे हैं और जीवन-दायिनी वर्षा का इन्तजार कर रहे हैं, जिसमें अभी दो महीने की देर थी।

सब्रा का घर गाँव के परले सिरे पर था। मेरा ख़याल है कि वह ईंट का मकान उसके दादा ने अपनी जवानी में बनाया था। जब हम लोग वहाँ पहुँचे, तब सब्रा की माँ अपने खुले हुए दरवाज़े के सामने कुछ काम कर रही थी। उसने और उसके सबसे बड़े लड़के उमताज ने, जो छः बरस का था, उमंग से मेरी अगवानी की। सबसे छोटा लड़का, चार बरस का मुमताज़ सो रहा था। उसे जल्दी से जगाया गया। इससे उसका मिज़ाज इतना बिगड़ गया कि उसने उस वक्त मुझसे बात करना भी पसन्द नहीं किया। कुछ देर बाद जब उसकी नींद बिलकुल उड़ गयी, तब उसने मुझसे बात की।

परिवार में एक सदस्य और था। वे थे सब्रा के बूढ़े दादा; लम्बा कद, कोमल स्वभाव, मुँह पर बड़प्पन की छाप और लहराती हुई सफेद दाढ़ी। सबसे बड़े को छोड़कर उनके सब लड़के शकूर की तरह अलग-अलग शहरों में, मिलों में, कारखानों में या घरों में नौकर थे। उनके बीवी-बच्चे उनके साथ रहते थे। सिर्फ सब्रा के ताऊ, जो मुझे लेने स्टेशन आये थे, अपने पिता की ज़मीन पर खेती-बारी करते थे।

सबरा के दादा थोड़ी-सी ज़मीन के मालिक हैं—खेती के लायक तीन एकड़ के टुकड़े के। वैसे इतनी-सी ज़मीन कम ही है; लेकिन इस क्षेत्र के अधिकांश लोगों के पास इतनी ज़मीन भी नहीं हैं। ज्यादातर लोग भूमिहीन मज़दूर हैं और उनकी मेहनत का मुआवज़ा उन्हें कटी हुई फ़सल के छोटे-से भाग के रूप में मिलता है।

सबरा के दादा के पास ज़मीन है। इसका यह मतलब नहीं कि वे रईस हैं। लेकिन अपनी ज़मीन और अपने दो बैल ले कर वे निश्चिन्त हैं। साधारण परिस्थितियों में उनका और उनके जैसे दूसरे जमीन-मालिकों का रहन-सहन गाँव के भूमिहीन किसानों के रहन-सहन से बहुत भिन्न नहीं होता। लेकिन सूखे के दिनों में या फ़सलें खराब होने के ज़माने में उन्हें कम मुसीबत झेलनी पड़ती है।

सबरा के घर का बहुत बड़ा भाग खुले आँगन ने रोक रखा था। रात को हम उसी में सोते थे। सुबह और शाम को ठंडक के समय उसमें बैठते थे। सबरा की माँ नाज और फलों को सुबह की धूप में उस आँगन में सुखाती थी। आँगन के ही एक कोने में मिट्टी का चूल्हा था। उसमें लकड़ी जला कर सबरा की माँ खाना पकाती थी।

आँगन के चारों ओर छोटे-छोटे कमरे थे, जिनमें अनाज भरकर रखा जाता था। खेती के जो कुछ भी थोड़े-बहुत औज़ार उनके पास थे, वे भी इन कमरों में ही रखे जाते थे। एक कमरा सबरा का था; उसे उस पर नाज़ था। उसमें एक चारपाई पड़ी थी। उसमें उसके, उसकी बहन के और उसके भाइयों के छोटे-छोटे बक्स रखे थे।

आँगन के एक कोने में नाली थी, जो बाहर गली में निकलती थी। इस नाली पर ही नहाना-धोना हो सकता था। गन्दा पानी उसी में डाला जाता था। फ़तहपुर की तरह यहाँ भी न पाखाना था, न बिजली, न पानी का नल। आस-पास के खेत पाखाने का काम देते थे और पास का कुआँ नहाने के लिए पानी के नल का। निकट भविष्य में ही बिजली के आ जाने की आशा है। उम्मीद है कि उत्तर की ओर पंजाब में लगभग १९५८ में भाखरा बाँध के पूरा हो जाने पर पंजाब, दिल्ली, राजस्थान और उत्तर-प्रदेश के हज़ारों गाँवों को उसकी जल-

गाँव के कुछ लोग विशेषतया सबरा और मेरी उम्र की लड़कियाँ मुझसे मित्रतापूर्वक मिलती थीं। जिस दिन मैं आयी उस दिन सब पड़ोसिनो का, जो मुझे देखने आँगन में जमा हुई थीं, जब मैं अभिवादन कर चुकी और उनसे मित्रता की दो बातें कर चुकी, तब सबरा ने मेरे कोहनी गड़ाकर धीरे से मुझसे कहा कि हम दोनों उसकी कुछ सहेलियों को लेकर ऊपर छत पर बने छोटे-से कोठार में चलें।

लड़कियों को भी कौतुक हो रहा था; लेकिन उनमें दोस्ती की भावना थी। उन्होंने मुझसे कई सवाल किये। मैं कहाँ से आयी हूँ? भारत क्यों आयी हूँ? मेरे भाई-बहन हैं या नहीं; मेरी शादी हो चुकी है या नहीं और ऐसी ही बहुत-सी बातें।

सबने—सबरा ने भी—अपनी नाक में नथ पहन रखी थी। मुझे याद आया कि जब सबरा दिल्ली आयी थी, तब उसकी नाक में नथ नहीं थी। तब मैंने पूछा कि नथ पहनने का क्या कोई खास मतलब होता है? उन्होंने मुझे बताया कि लड़कियाँ नथ तभी पहनती हैं, जब शादी के लायक हो जायँ—यही कोई चौदह-पन्द्रह बरस की उम्र में।

इसके बाद वे गाँव की एक लड़की के बारे में बातें करने लगीं, जिसकी जल्दी ही शादी होने वाली थी। फिर एक और लड़की की चर्चा छिड़ गयी जो हाल में ससुराल से लौटी थी। उसने अपनी सहेलियों को बताया था कि जब वह खाना ठीक से नहीं बना पाती थी या घर का कोई काम ठीक तरह से नहीं कर पाती थी, तब उसकी सास उस पर बिगड़ती थी और कभी-कभी उसे मारती भी थी। सबरा और उसकी सहेलियों ने फैसला किया कि उन्हें सासों के पल्ले पड़ने से पहले ही अच्छी तरह खाना बनाना सीख लेना चाहिए।

ये लड़कियाँ और उनकी माताएँ यद्यपि मुसलमान थीं, फिर भी गाँव में बुर्क़ा नहीं ओढ़ती थीं। वे बस अपना सिर चुन्नी से ढँक लेती थीं; जैसा कि लगभग सभी वर्गों की भारतीय औरतों का रिवाज़ है, जिसे मैंने कभी का अपना लिया था।

सबरा, उसके परिवार और मेरे बीच होनेवाली बातचीत दिल्ली में बोली जानेवाली हिन्दुस्तानी में होती थी। बरखुरदारपुर के लोगों की हिन्दुस्तानी में

उर्दू कुछ ज्यादा रहती थी, जिसके कारण मेरे लिए उसे समझना कभी-कभी कठिन हो जाता था। मैं बातचीत का साधारण तारतम्य ही समझ पाती थी।

सबरा की माँ दोपहर का खाना सुबह बना लेती थी। बच्चे स्कूल से लगभग साढ़े दस बजे आते थे और हम खाना दोपहर होने तक खाते थे। भोजन में मुख्य चीज रोटी या चपाती होती थी। रोटी के साथ खूब मसालेदार आलू या अण्डा रहता था; कभी-कभी सब्ज़ी भी होती थी। छोटे बच्चों को दूध मिलता था। चावल कभी-कभी खाया जाता था।

फ़तहपुर में शाक बहुत होता था। लेकिन बरखुरदारपुर में उसके दर्शन भी दुर्लभ थे। कभी कोई बेचने वाला शायद किसी दूर के गाँव से आ जाता था तो वह दाम इतने अधिक बोलता था, जो अधिकांश गाँववालों के बूते के बाहर होते थे। सब्जियों और फलों की तो बहुत कमी थी। इसको छोड़ कर भोजन सन्तोषप्रद जान पड़ता था। खाने की सामग्री काफ़ी मिलती थी। जो खाना हम बरखुरदारपुर में खाते थे, उसमें यद्यपि विभिन्नता नहीं रहती थी—फिर भी मैं उसकी गिनती उन बढ़िया-से-बढ़िया खानों मे करती हूँ, जो मैंने भारत के किसी भी कोने में खाये थे।

खाने के बाद हम दो-तीन घंटे आराम करते थे। पाँच बजे सबरा हिन्दी लिखना-पढ़ना सीखने के लिए एक पड़ोसी के यहाँ जाती थी। एक दिन सबरा की शिक्षिका ने गाँव में डाक्टर और बड़े बच्चों के लिए स्कूल की कमी की शिकायत की। उसने मुझसे कहा—"बहन जब तुम अपनी पढ़ाई पूरी कर लो, तब यहाँ आकर एक स्कूल और एक अस्पताल खोल देना।"

जब उसने मुझे बताया कि उसका बेटा बम्बई में डाक्टरी पढ रहा है, तब मैंने समझा कि वह अपेक्षाकृत समृद्ध है। उसके पास पैसा था और सबरा को वह पढ़ाती ही थी। इसलिए उसमें स्कूल खोलने की भी योग्यता थी। मैंने उससे पूछा कि वह खुद क्यों नहीं स्कूल खोलती? इसका उसके पास कोई उचित उत्तर न था। वह अभ्यस्त थी इस बात की कि ऐसे काम बाहरवाले करें।

मुझे संदेह है कि उसका बेटा डाक्टर बन कर गाँव में अपना पेशा शुरू करेगा। वह शहर की तेज़ जगमगाती नीओन की बत्तियाँ देख चुका है। गाँव के टिमटिमाते हुए मिट्टी के तेल के दीपक उसे अच्छे नहीं लगेंगे। यह भावना

स्वाभाविक है और संसार भर के युवक-डाक्टरों के मन में बसी हुई है। लेकिन आज ज़रूरत है कि भारत के नवयुवकों में स्वार्थ-त्याग की भावना पैदा हो। और उस भावी डाक्टर में अगर यह भावना नहीं जागी तो वह भी नगरों के पैसा कमानेवाले डाक्टरों की श्रेणी में सम्मिलित हो कर रह जायगा। उसका गाँव जहाँ-का-तहाँ दुःख झेलता रहेगा।

सबरा की पढ़ाई के बाद हम घूमने या मिलने चले जाते थे। सबरा के मकान के सामने और पिछवाड़े आम के पेड़ थे, जिन पर हरी-हरी कच्ची अम्बियाँ लगी थीं। उन्हें तोड़ने के लिए उमताज़, मुमताज़ और दूसरे छोटे बच्चे बराबर ढेले और लकड़ियाँ फेंकते रहते थे। कच्ची अम्बियों के कसैलेपन में भी एक स्वाद होता है, जैसा हरे सेव में होता है। जो गिरी हुई अम्बियाँ खाने से बच जाती थीं उनकी हम बड़ी स्वादिष्ट चटनी बनाते थे।

मकान के पीछे-दूर तक एक तरफ़ को खाली खेत पड़े थे; दूसरी तरफ़ पेड़ों के नीचे जगह साफ़ करके सबरा के दादा और दूसरे ज़मीन-मालिकों की फसल का अनाज भूसे से अलग किया जा रहा था।

सूरज डूब जाने के बाद हम लोग भोजन करते थे; आँगन में चारपाइयों पर बिस्तर लगाते थे, और कुछ देर में दरवाज़े पर कुण्डी चढ़ा कर सो जाते थे। सबरा के ताऊ बाहर अनाज के पास सोते थे और दादा मुमताज़ के साथ छत पर।

मैं क्या बताऊँ कि उस ग्रामीण परिवार में रहने और उसके काम में हाथ बँटाने में मुझे कितना आनन्द आया! दुःख यही है कि मैं वहाँ और ज़्यादा न ठहर सकी; मुझे चौथे दिन ही आँख का दर्दनाक रोग 'ट्रकोमा' हो गया। फ़तहपुर में मैंने जिन बहुत-सी दुखनी आँखों को "सेलाइन वाटर" से धोने में मदद की उनमें से शायद कोई ट्रकोमा से पीड़ित रही होगी। और उसी से मुझे यह रोग लगा होगा।

गाँव की दो एक घरेलू दवाइयाँ आजमाने के बाद पौने तीन मील दूर जायस के छोटे-से सरकारी अस्पताल के डॉक्टर को अपनी आँख दिखाने का फ़ैसला किया। मैंने मँगनी की एक साइकिल और मँगनी का ही धूप का चश्मा लिया और सबरा के ताऊ की मदद से मैं अस्पताल पहुँची। वहाँ के

व्यस्त डाक्टर ने और रोगियों की तरह मेरा भी मुफ़्त इलाज किया।

मुझे कहना ही पड़ेगा कि सबरा और उसके परिवार के साथ मेरे अन्तिम तीन दिन इतने आनन्द से नहीं बीते जितने कि पहले चार दिन। धूप में मेरी आँखें खुलती ही नहीं थीं। इसलिए मैं सबरा के कमरे के बाहर क़दम भी नहीं रख सकती थी। सब से ज्यादा दुःखदायी बात यह थी कि मैं घर के भी किसी काम में सहायता नहीं कर पाती थी।

मैंने बरखुरदारपुर के अपने घर और अपने नवीनतम परिवार से विदा ली। मैं इस एक सप्ताह को भारत में अपने आवास के अत्यन्त सुखद दिनों के रूप में याद करती हूँ।

बरखुरदारपुर खेती और साफ़-सफ़ाई के आधुनिक विचारों से बिलकुल अनभिज्ञ था। वहाँ न नल-कूप थे, न खाद बनाने के गड्ढे; न मल-मूत्र बहाने की आधुनिक नालियाँ ही। हर रोज़ सुबह जिस कुएँ से मैं और सबरा पानी भरती थी, वह खुला हुआ था और उसका मुँह नाममात्र को भी ज़मीन से ऊँचा न था। कूड़ा-करकट और पत्थर-लकड़ी सभी कुछ उस में जाता था। घरों का गन्दा पानी बह कर गली में पहुँचता था। सबरा के ताऊ का हल चलाने, बीज डालने और कटाई करने का तरीक़ा वही था, जो उनके पुरखों के ज़माने से—सदियों से चला आ रहा था। फ़सल का भविष्य बहुत हद तक बरसात की दया पर निर्भर करता था।

मैंने मल-मूत्र बहाने की आधुनिक सीमेंट की नालियों और गहरे गड्ढों की व्यवस्था सबरा के ताऊ को समझायी और बताया कि भारतीय ग्राम-सेवा के गाँवों में कई परिवारों ने यह व्यवस्था कर डाली है। वे बोले, "ठीक है बहनजी, लेकिन इसमें पैसा खर्च होगा और समय लगेगा। इतना सब करने लायक नहीं है यह काम।"

इस व्यक्ति में इस चीज़ का अभाव है, जिसे भारत सरकार के पंचवर्षीय योजना ने "प्रगतिशील दृष्टिकोण" की संज्ञा दी है। यह दृष्टिकोण, जो भारत में वैसी सामाजिक क्रान्ति की सफलता के लिए अत्यन्त आवश्यक है, जैसी कि मैंने सेवाग्राम और भारतीय ग्राम-सेवा के गाँवों में देखी थी। सेवाग्राम में,

मढ़ेगा के आसपास के गाँवों में और फ़तहपुर में मैंने यह प्रगतिशील दृष्टिकोण देखा। परन्तु बरखुरदारपुर में इसका अस्तित्व तक नहीं था।

बहनजी के फ़तहपुर जाने से पहले फ़तहपुर में भी इसका अस्तित्व नहीं था। जिन गाँवों में मैं और वायलेट गये थे उनमे भी कुछ ऐसे थे जिनमें इसका अभाव था। गाँव की औरतों को सिर्फ़ इस बात में दिलचस्पी थी कि मै कौन हूँ और विवाहित हूँ या अविवाहित। बच्चों तक में "कोई नयी बात न सीखने की" भावना घर किये हुए थी।

बरखुरदारपुर में ग्राम-कार्यकर्त्ता को उन्हीं समस्याओं का सामना करना होगा, जिनका भारतीय ग्राम-सेवा के कार्यकर्त्ता और ग्राम-विस्तार-सेवाओं के कार्यकर्त्ता सारे भारत में सफलता के साथ कर रहे हैं। मूल रूप में समस्या यह है कि लोगों में किसी क़दर नयी बातों को और काम करने के बेहतर तरीकों (कम-से-कम कार्यकर्त्ता तो यही मानते है) को ग्रहण करने की इच्छा नहीं है, उत्साह नहीं है।

इस उत्साहहीनता को देख कर कुछ लोग अधीर हो कर कह देते हैं—"कोई फ़ायदा नही है। गाँवो के लोग सीखना ही नही चाहते। उन्हें कुछ भी सिखाने की कोशिश करना समय नष्ट करने के बराबर है। अगर वे अज्ञान और ग़रीबी में ही जीना और मरना चाहते हैं, तो यही होने दो।"

बहनजी, वायलेट और भारतीय-ग्रामसेवा की दूसरी सहयोगिनियों का दृष्टिकोण अलग है। इसकी कैसे आशा की जा सकती है कि जिस शख़्स के दादा-परदादा बीज बिखेर कर बोते आ रहे हैं, वह कतारों में बीज बोने को तैयार हो जायगा? एक नियमित व्यवस्था से बीज बोने से किसान को कोई लाभ नहीं दीखता और समय इतना बुरा है कि नये और अपरीक्षित उपायों के प्रयोगों का ख़तरा उठाना उसे उचित नहीं लगता।

जिस व्यक्ति ने जीवन में केवल इतना सुना हो कि कोई बीमार अस्पताल गया था और वहाँ से जीवित नही लौटा; इससे अधिक उसे अस्पताल का कोई अनुभव न हो। अगर वह व्यक्ति गम्भीर से गम्भीर रोग में फँस कर भी अस्पताल न जाये तो यह स्वाभाविक ही है। लोग किसी भी राष्ट्र के हों अगर उन्हें यह ज्ञान नहीं है कि अस्पताल उनकी कितनी ज्यादा सेवा कर

सकता है, तो उन्हें अस्पताल की महत्ता का विश्वास करा देना अत्यन्त कठिन कार्य है।

जिस व्यक्ति ने रोगाणुओं का नाम नहीं सुना है, उसके लिए जो पानी आँख से साफ़ दिखाई दे वह बिलकुल साफ़ है। यदि आप अमरीका जैसी रोगाणुओं से परिचित सभ्यता में नहीं पले हैं तो आपके लिए यह विश्वास करना कितना कठिन होगा कि ऐसी छोटी-छोटी चीज़ें भी हैं, जो आँख से दिखाई नही देतीं और जो आपको बीमार बना सकती हैं। और कितना आसान होगा यह विश्वास कर लेना कि आपकी बीमारी देवी-देवताओं का प्रकोप है, जैसा कि चावला के लोगो ने बच्चे के मियादी बुख़ार से पीड़ित हो जाने पर माना था।

बहनजी और वायलेट आपसे पूछ सकती हैं कि क्या आपने कभी कल्पना की है कि आप लम्बे-चौड़े जंगलों से घिरे हुए एक छोटे-से गाँव में रह रहे हैं। आपकी दुनिया गाँव की सीमाओं में घिरी हुई है। आप कभी उस क्षेत्र से बाहर नहीं निकले हैं। आपने रहन-सहन के अपने ढंग के सिवाय कोई और ढंग नहीं देखा है। आपके बड़े दादा जो गाँव के बुजुर्ग हैं, और बाकी बड़े-बूढ़े सब एक ही तरीक़े से खेती करते हैं। आपके दादा का तरीक़ा ही एक मात्र तरीक़ा है। आपको शायद कभी गुमान तक नहीं होगा कि कोई और तरीक़ा भी हो सकता है।

तब क्या आपको आसानी से विश्वास हो जायगा कि सिर्फ़ और तरीक़े ही नही हैं, बल्कि आपके तरीक़े से कही ज्यादा अच्छे तरीक़े भी है? यदि कोई बाहरवाला आपसे आकर कहे कि अपनी खेती के औज़ारों और तरीकों में अमुक परिवर्तन कर डालो, तो क्या उसके सुझावों पर आप सन्देह नहीं करेंगे? आप सुझावों पर ही नहीं; उस व्यक्ति पर भी सन्देह करेंगे और उसके कट्टर विरोधी भी हो जायँगे।

भारत के गाँव सदियों से सो रहे हैं। अब देश के आज़ाद हो जाने के बाद ही लोग करवट लेने लगे हैं। जो कुछ उनके सीधे-सादे गाँवों से उन्हें मिलता है, उससे ज्यादा पाने की इच्छा करने लगे हैं; ज़रूरत समझने लगे हैं।

यह करवट बड़ी अद्भुत है। दूसरी पचवर्षीय योजना के अनुसार १९६१ तक कृषि, जन-स्वास्थ्य और शिक्षा-विस्तार-व्यवस्था भारत के एक-एक गाँव में पहुँच जायँगी। सामूहिक योजनाएँ गाँवों के विकास के कार्यक्रम की जान हैं।

लगभग एक लाख गाँवों में सात करोड़ जनता के लिए भारत में सामूहिक योजनाओं का काम शुरू भी हो चुका है।

सिंचाई और बिजली के लिए अनेक बाँधों का निर्माण करवाना पाँच सालाना आयोजन में शामिल है। यह काम ग्राम-विकास कार्यक्रम का बहुत महत्वपूर्ण भाग है। इन बाँधों की योजनाओं में सबसे बड़ी है उत्तर-पूर्वी पंजाब की भाखरा-नंगल योजना। शान्तिनिकेतन की मेरी सहेली, मनजीत के पिता इस योजना में ओवरसीयर थे। मनजीत ने मुझे एक सप्ताह के लिए अपने घर बुलाया।

मेरा ट्रकोमा जल्दी ही ठीक हो गया और मैंने उसका आमंत्रण स्वीकार कर लिया।

दस साल पहले पूर्व पंजाब के उत्तर होशियारपुर ज़िले में मनजीत के घर के चारों ओर हिमालय की निचली सूखी पहाड़ियों का क्षेत्र वीरान पड़ा था। दूर-दूर पर कुछ छोटे-छोटे गाँव ही बसे हुए थे। नंगल अब तो एक प्रगतिशील बस्ती है, उसमें कई स्कूल हैं, अस्पताल हैं, मन्दिर-मसजिद हैं; लेकिन तब इस योजना के पहले वहाँ नंगल का नाम तक नहीं था।

१९४७ में विभाजन होने के बाद हजारों हिन्दू और सिख पाकिस्तान से पूर्व पंजाब में आये और उस बंजर भूमि से अपना जीवनयापन करने के लिए होशियारपुर ज़िले तक पहुँचे। आज अधिकांश विस्थापित विशालकाय भाखरा-नंगल योजना पर इंजीनियरों, ओवरसीयरों, ड्राइवरों, मैकेनिकों और मज़दूरों की हैसियत से काम कर रहे हैं। नंगल क्षेत्र मशीनों की आवाज़ से गूंज रहा है।

जिन दिनों मैं वहाँ थी, तब इस विशाल योजना के पहले दौर का काम पूरा होने के क़रीब था। जब बाँध, बिजलीघर और नहरों का जाल बिलकुल पूरा हो जायेगा, तब पंजाब की चप्पा-चप्पा सूखी ज़मीन की सिंचाई होने लगेगी और उत्तरी राज्यों के हज़ारों गाँवों को जगमगा देने के लिए काफ़ी बिजली पैदा होने लगेगी। यह संसार की सबसे बड़ी सिंचाई-योजना है। इसका बाँध सबसे बड़ा है। इसकी ऊँचाई सिर्फ़ हमारे हूवर बाँध से नीची रहेगी।

फिर से इस सारे-के-सारे विशाल क्षेत्र का रूप बदल जायगा। ज़मीन को

पानी मिलेगा। वह लहलहाने लगेगी—उन लोगों की मेहनत से, जो फिर से अपना जीवन बना रहे हैं।

मनजीत और उसका परिवार भी अपना समृद्ध घरबार और निश्चित जीवन छोड़ कर विस्थापितों की बाढ़ के साथ आये थे। उसके पिता को सरकारी नौकरी प्राप्त करने में सफलता मिली और बहुत-से लोगों की तरह वे नंगल नहर पर ओवरसीयर नियुक्त हो गये।

वे अपने परिवार के साथ अपने काम की जगह पर ही रहते हैं। यह जगह नंगल से दस मील दक्षिण नहर के किनारे है। बुलडोज़र और ट्रकें वहाँ रात-दिन काम में लगी रहती थीं और कभी-कभी उनके शोर से रात को नींद टूट जाती थी। उस समय उत्साह का अनुभव होता था।

जहाँ-जहाँ काम चल रहा है, वहाँ-वहाँ सुविधाजनक जगहों पर नहर के कर्मचारियों के लिए अस्थायी मकान बनवा दिये गये हैं। कर्मचारियों को बिजली मुफ़्त दी जाती है। बड़े परिवार के लिए मकान छोटे हैं। मनजीत के घर में दो छोटे कमरे, एक भंडार, एक छोटा-सा रसोईघर और आँगन है। उनकी गाय और बछड़ा भी आँगन में ही बँधे रहते है। जगह बड़ी सूनी है। कुछ थोड़े-से परिवार ही वहाँ रहते हैं। सबसे नज़दीक का शहर नौ मील दूर है और सड़क कच्ची तथा धूल भरी है।

मैं एक सप्ताह मनजीत के साथ रही। उसकी गर्मियों की छुट्टियाँ थीं। हमारा ज्यादा समय घर के अंदर पढ़ने-लिखने, सीने-पिरोने और बातें करने में गुज़रता। एक दिन सुबह हम नंगल की बस्ती में गये जो नज़दीक ही है। ज़ोरों से काम चल रहा था। योजना के लगभग सभी कर्मचारी उस बस्ती में रहते हैं। वे पहली बार इंजीनियरिंग की इतनी बड़ी योजना के काम में लगे हैं। कुछ अमरीकी टेक्निशियन भी बस्ती में रहते हैं। वे भारतीय इंजीनियरों की सहायता करने के लिए आये हुए हैं। एक रोज़ हम बाँध का प्रारम्भिक काम देखने भाखरा गये।

बड़ी हँसी-खुशी में एक सप्ताह बीता और मैंने मनजीत तथा उसके परिवार से विदा ली। एक लम्बा-चौड़ा सिख विस्थापित ड्राइवर सीमेंट की खाली बोरियाँ शहर ले जा रहा था, उसने अपनी ट्रक से मुझे स्टेशन पर छोड़ दिया। शाम को मैं दिल्ली पहुँच गयी।

सत्रह

महीनों बाद बेकार

बख्तुरदारपुर से दिल्ली लौटने के लगभग तीन सप्ताह बाद मैं मनजीत के यहाँ गयी थी। यह समय मैंने दिल्ली में बिताया; इसीमें अपनी आँखों का इलाज भी कराया। ये तीन सप्ताह मैं अपनी अमरीकी 'अभिभावक' जीन जायस के साथ रही। वे दिल्ली में काम करनेवाले कुछ अमरीकियो के साथ पुरानी दिल्ली के एक छोटे-से फ्लैट में रहती थीं।

दिन को वे काम पर जाती थीं। इसलिए मेरा अधिकांश समय १७, रैटेन्डन रोड में शकूर व दूसरे नौकरों से, जो हमारे पुराने घर के पिछवाड़े अहाते में रहते थे, मिलने-जुलने में बीतता था। मैं अक्सर सुबह उनके यहाँ चली जाती थी; दिन भर वही रहती और लगभग गोधूलि के समय डाक्टर के पास जाती। मर्द लगभग आधी छुट्टी पर थे। वे भारत में नये अमरीकी राजदूत, श्री जार्ज एलेन के आगमन की तैयारियो में लगे थे।

अहाता भरा हुआ था। छोटे-छोटे मकानों में, जो शायद पन्द्रह फुट लम्बे और आठ फुट चौड़े रहे होंगे, नौ परिवार रहते थे। आँगन और पाखाना सबके लिए एक था। इतनी भीड़ होने और धर्म तथा भाषा के अन्तर के उपरान्त भी वे सब खूब हिल-मिल कर रहते थे।

शकूर मुसलमान था। वह आजकल अकेला था। उसका परिवार गाँव लौट गया था। उसकी जबान उर्दू थी। किशोरलाल नवयुवक हिन्दू था। वह स्वभाव का बहुत अच्छा था और अपने परिवार के साथ रहता था। उसके चार बच्चे थे। उसकी पत्नी हमेशा हँसती रहती थी।

सुशेन रसोइये का नाम था। वह और उसकी पत्नी बौद्ध थे और पूर्व बंगाल के रहनेवाले थे। सुशेन की पत्नी को मैं दीदी कहा करती थी। उसकी मातृभाषा बँगला में 'दीदी' बड़ी बहन को कहते हैं। वह बहुत आकर्षक औरत

थी । बालों को वह तेल डाल कर और कंघी करके बिलकुल साफ़ रखती थी और हमेशा उसका जूड़ा बाँधे रहती थी।

ड्राइवर जीवन और उसकी पत्नी सिख थे। उनकी उम्र कुछ ज्यादा थी। उनका गाँव पंजाब में एक सामूहिक योजना के क्षेत्र में था। उनकी मातृभाषा पंजाबी थी। जीवन की पत्नी बड़े कोमल स्वभाव की दयालु स्त्री थी। मुझसे वह हमेशा माँ की तरह व्यवहार करती थी। एक दिन उसने मुझसे कहा, "जैसी मेरी बेटी, वैसी तुम।" वह पंजाबी ढंग की पायजामे जैसी सलवार और क़मीज़ पहना करती थी।

दो माली थे। दोनों हिन्दू थे और दोनों के परिवार उत्तर प्रदेश के गाँवों में रहते थे। जिसकी उम्र अधिक थी उसकी पत्नी बड़ी हँसमुख और साहसी थी। गर्मियों का ज्यादा समय वह अहाते में ही बिताती थी। वह मोटी-मोटी साड़ियाँ और गाँव की औरतों जैसे भारी-भारी चाँदी के ज़ेवर पहनती थी। जब वह चलती थी तो उसके पाँवों की भारी-भारी पायलें झनकती रहती थीं। उसके पैरों में पायलों की रगड से बडी-बड़ी सख्त लकीरें पड़ गयी थी जो उसने मुझे और किशोरलाल की लड़की शान्ति को दिखायी थीं।

मदन भंगी (झाड़ू-वाला) था। उसका युवक बेटा और उसकी पत्नी उसके साथ रहते थे। मालियों की तरह वह भी गाँव की हिन्दुस्तानी बोला करता था। मदन हिन्दू हरिजन था। घर का सारा गंदा काम उसके ज़िम्मे था—फ़र्श धोना, गंदगी फेंकना, बरसाती में झाड़ू लगाना इत्यादि। अहाते के लोग उससे बुरा बर्ताव तो नहीं करते थे; परन्तु केवल संयोगवश नीची जाति में जन्म लेने के कारण उसे नीचा समझा जाता था।

उसी समय जबकि मैंने समझा था कि मैंने और मेरे परिवारवालों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि हम उन सबको बराबर समझते हैं; कुछ बच्चों ने मुझसे कहा कि मैं कभी मदन के घर का न पानी पिऊँ, न खाना खाऊँ। जो थोड़ा-सा समय हमने भारत में बिताया उसमें हमने नौकरों के बीच बराबरी की बहुत कुछ भावना पैदा की। लेकिन जो संस्कार बचपन से घर किये हुए है, उन्हें दो वर्ष में हर्गिज़ नहीं मिटाया जा सकता।

चौकीदार निसार, शकूर की तरह मुसलमान था। शकूर की ही तरह उसका गाँव भी उत्तर प्रदेश में था। उसकी पत्नी और तीन बच्चे कुछ समय के लिए

उसके पास आकर रहे। उसका क़द लम्बा था। उसके चेहरे पर दाढ़ी थी और शीतला के दाग़ बुरी तरह छाये हुए थे।

धोबी का नाम बद्रीप्रसाद था। वह हिन्दू था। उसकी पत्नी और छोटे-छोटे तीन लड़के उसके साथ रहते थे। वे ताजमहल के नगर आगरे के रहनेवाले थे। वह पड़ोस के दो-तीन परिवारों का भी काम करता था। अहाते के एक कोने में उसकी सीमेंट की बड़ी-सी टंकी थी जिसमें वह कपड़े धोया करता था। गर्मियों के दिनों में बच्चे उसमें तैरा करते थे। उसकी पत्नी कपडों पर इस्त्री किया करती थी। उसकी इस्त्री बहुत बड़ी और भारी थी जिसमें दहकते हुए कोयले भरे जाते थे।

अहाते के बच्चे स्वभावतया मेरे ख़ास दोस्त हो गये। किशोरलाल की सबसे बड़ी तेरह बरस की लड़की सुन्दर और हृष्टपुष्ट थी। अपने छोटे भाई को सँभालने और सफ़ाई तथा खाना पकाने का बहुत-सा काम उसके ज़िम्मे था। उसके लम्बे, घने और ख़ूब काले बाल बहुत ही सुन्दर थे। बालों में रोज़ कंघी करना और उनकी एक ख़ूबसूरत चोटी गूँथना भी उसका नित्य-प्रति का काम था।

शान्ति का भाई—प्यारेलाल दस वर्ष का था। रोज सुबह वह मुझे बड़ी होशियारी के साथ सफ़ेद क़मीज़ और निकर पहने स्कूल जाने को तैयार मिलता था। दोपहर में घर लौट कर अपने स्कूल के कपड़े वह हिफाज़त से घर में टाँग कर, धोबी के दोनों लड़कों के साथ खेलने के लिए पिछवाड़े की गली में निकल जाता था।

शान्ति की छोटी बहन लीला की आयु ६ साल की थी। वे बचपन के आनन्द के दिन थे। इस उम्र में बच्चे लगभग वही करते हैं, जो उनके जी में आता है। लाज-शर्म का कोई ख़याल नहीं होता, इसलिए कपड़े भी चाहे जैसे पहनते हैं। लीला इस ज़माने का पूरा आनन्द ले रही थी और उसके जीवन में उतनी ही बेफ़िक्री थी, जितनी शान्ति के जीवन में जिम्मेदारियाँ। तपती धूप में वह सिर्फ़ एक निकर पहने खेलती-फिरती थी, जिससे उसके शरीर का रंग और पक्का हो गया था। किशोरलाल का सबसे छोटा लड़का—अशोक कुमार छः महीने का था; गोल-मटोल, हँसमुख और स्वस्थ।

धोबी का लड़का भगवानदास शान्ति के बराबर लगभग तेरह वर्ष का

था और शान्ति की ही तरह उस पर भी कई जिम्मेदारियाँ थी। धुलाई में अपने पिता की और इस्त्री करने में अपनी माता का हाथ बंटाने की। प्यारेलाल की तरह वह स्कूल जाता था और हर रोज गर्व के साथ पाठ पढ़कर सुनाता था। उसका कोई ग्यारह वर्ष का भाई बाबूलाल वैसा ही था, जैसे कि छोटे भाई होते हैं; जिन पर बड़े भाई रोब गाँठा करते हैं।

परिवार में सबसे छोटा था दो बरस का रामदास। वह बीमार और कमज़ोर होते हुए भी बड़ा प्यारा था। मुझे उससे विशेष लगाव था। मेरी माँ ने बार-बार कोशिश की थी कि उसका नियमित रूप से इलाज हो। दुर्भाग्य से उसके माता-पिता आने-जाने की कठिनाई के मारे और अस्पताल के प्रति अपने अविश्वास के कारण इलाज जारी रखने को तैयार नहीं हुए। इसलिए बच्चा बेचारा कमज़ोर ही रहा और उसकी बाढ़ भी दब गयी।

कभी-कभी मेरी इच्छा होती थी कि काश, बच्चे कभी बड़े होते ही नहीं और उन्हें वयस्क आयु के उत्तरदायित्व का भार उठाना ही न पड़ता। वे मुझे अपनी बड़ा बहन की तरह मानते थे और उनके माता-पिता बेटी या बहन की तरह। शकूर ने एक दिन मुझसे कहा—"मैं तुम्हें अपनी छोटी बहन समझता हूँ।"

इन लोगों का आतिथ्य-प्रेम असीम था। हमेशा एक परिवार मुझसे अपने साथ भोजन करने का आग्रह करता था और दूसरा दोपहर में अपने साथ आराम करने का। शान्ति के साथ मैं कई बार रात को भी रही।

उनका यत्किंचित् बदला चुकाने के लिए मैं बच्चों के वास्ते मिठाई और फल लाती थी। अपनी साइकिल को टैक्सी बनाकर उन्हें कभी दुकान, कभी स्कूल और कभी इधर-उधर घुमाने ले जाती थी। जब औरतें खाना बनातीं, तब मैं उनके पास बैठकर देखा करती और उनकी सहायता करती। लेकिन दुनिया भर के उपहार देकर भी मैं उनसे उऋण नहीं हो सकती। जो कुछ मैंने उनसे पाया था, उसका बदला मैं अपने प्रेम और सद्भावना से ही दे सकती थी।

अहाते की भीड़-भाड़ वाली व्यस्तता में जैसे ये दिन बीते, उसके बिलकुल विपरीत एक सप्ताह मैंने गर्मियों में काश्मीर के एक बड़े-से घर में गुजारा। सुशीला बहन के कुछ मित्रों ने, जो हर साल गर्मियाँ बिताने के लिए

पहाड़ जाया करते थे, मुझे अपने साथ ले जाने का प्रस्ताव पेश किया।

हम रेल द्वारा दिल्ली से पठानकोट को रवाना हुए। पठानकोट भारत के उत्तरी भाग में अंतिम रेलवे स्टेशन है। दूसरे दिन सुबह ही हम वहाँ पहुँच गये और मोटर से २६५ मील दूर श्रीनगर को चले। मोटर पहाड़ों में ऊपर-ही-ऊपर चढ़ती हुई नौ हज़ार फुट ऊँचे बनिहाल दर्रे पर पहुँची और वहाँ से धीरे-धीरे श्रीनगर की घाटी में उतरी।

शाम को हम श्रीनगर पहुँचे। मौसम ठंडा था और हलकी-हलकी बूँदें पड़ रही थीं। मकान शहर से बाहर सड़क के किनारे एक पहाड़ी पर था। पहाड़ी पेड़ों से भरी हुई थी। मकान बहुत बड़ा था, लेकिन उसकी सजावट साधारण थी। उसे देखकर मुझे अपने देश के मेन नगर के गर्मियाँ बिताने के घर याद आ गये।

मैं पंजाबी परिवार के साथ थी, जो काफ़ी समृद्ध था। विभाजन से पहले वे लोग पंजाब के उस हिस्से में रहते थे, जो अब पाकिस्तान में है। निस्सन्देह दादाजी परिवार के मुखिया थे और यहाँ वे छुट्टी मनाने आये थे। लेकिन अपने काम में यहाँ भी व्यस्त रहते थे।

परिवार के छोटे सदस्य दादा और दादी का बहुत सम्मान करते थे। डाक्टर साहब के सामने सब औरतें सिर ढँके रहती थीं और सुबह उठकर पहले जाकर उन्हें प्रणाम करती थीं। छोटे बच्चे उनके पैर छूते थे। वह ज़ोर से शायद ही कभी बोलते थे, लेकिन उनकी आवाज़ रोबदार थी और यह बात तय थी कि उनकी आज्ञा-पालन करने के लिए ही होती थी।

दादी धार्मिक प्रवृति की कोमल स्वभाववाली, ठिगनी-सी महिला थीं। उनके बाल पकने लगे थे। वे संस्कृत की एम. ए. थीं। यह सफलता बड़े मान की बात थी।

उन दिनों परिवार में दो बहुएँ और उनके बच्चे भी थे। एक बड़ा लड़का था, जो डाक्टरी के दूसरे वर्ष में पढ़ रहा था। सोलह और सत्रह वर्ष की तीन लड़कियाँ थीं, जो दिल्ली में हाईस्कूल में पढ़ती थीं और दो लड़के छोटे थे—एक छः साल का और दूसरा चार साल का।

यह परिवार कट्टर हिन्दुओं का था। कट्टर परिवार रोज सुबह जल्दी

प्रार्थना किया करते हैं। अब यह नित्य-कर्म दादा-दादी ही किया करते थे। दादाजी ने मुझसे कहा, "नयी पीढ़ी अपना धर्म-कर्म भूलती जा रही है।" रोज़ सुबह वे मुझे उसमें भाग लेने को बुलाया करते थे।

होमकुंड के पास बैठ कर दादाजी हिन्दुओं के प्राचीन ग्रन्थ-वेदों से भगवान् की स्तुति के श्लोकों का पाठ किया करते थे। बीच-बीच में निश्चित स्थलों पर वे, दादीजी और मैं घी, पानी और हवन-सामग्री अग्नि में डालते थे। यह क्रिया हवा, पानी और भोजन की शुद्धि की प्रतीक थी। अक्सर दिन में अनेक बार मैं दादाजी को प्रार्थना में लीन देखती थी।

काश्मीर "भारत का स्विटज़रलैंड" है। सैकड़ों समृद्ध भारतीय और अगणित विदेशी भ्रमणार्थी यहाँ गर्मियाँ बिताने आते हैं। दुर्भाग्य से मैं काश्मीर में चार दिन ही रही और चारों दिन बरसात होती रही। इसलिए श्रीनगर शहर को छोड़कर वहाँ के दर्शनीय स्थल देखने का मुझे अवसर ही नही मिला। पठानकोट से श्रीनगर तक के रास्ते का दृश्य ही मैंने देखा। लेकिन जो कुछ मैंने देखा उससे मुझे निराशा ही हुई। वहाँ से पजाब के गर्म प्रदेश में लौटने का मुझे दुःख नहीं हुआ।

काश्मीर के लोगों की दस्तकारी खासकर कढ़ाई मशहूर है। जिस परिवार के साथ मैं ठहरी थी, उसकी औरतें पोतियों के साथ अक्सर नगर में कपड़े की छोटी-छोटी दुकानों पर खरीदारी करने जाती थी। एक कमरे के सामने से खुली हुई तंग दुकानों में बडी बारीक कढाई की साड़ियाँ, शाल, ब्लाउज़ और कोट इस तरह टँगे रहते थे कि खरीदार की आँख उन पर पड़े बिना न रहे। मर्द पालथी मारे फ़र्श या लकड़ी की बेंच पर बैठे हुए सिलाई करते रहते थे ताकि गर्मियों में, बाहर से आने वाले ग्राहकों की माँगों को पूरा कर सकें। जब मेरी साथवालियाँ चीज़े पसन्द करने या दुकानदार से मोल-भाव करने में लगी होती थीं; तब मैं दस्तकारों की उड़ती हुई सुइयों पर नज़र गड़ा कर उनकी कढ़ाई के टाँके सीखने की कोशिश करती थी।

अपने इस नये परिवार के साथ मैंने चार दिन बेचैनी भरे आलस्य और आराम में बिताये। सारा काम नौकर करते थे। बच्चों के लिए तो बैठ कर बातें करने और बेकार दिन काटने का ही एकमात्र काम रह गया था।

इस वातावरण में मैं खुश नहीं रह सकती थी। सबरा को मेहनत जिसकी उसे कोई शिकायत नहीं थी, और उसके गांव के घर की ठेठ सादगी, वाइज़र दम्पति, वायलेट, फ़तहपुर की मेरी बहनजी और भारतीय ग्राम-सेवा की अन्य सहयोगिनों का अथक कार्य, तथा १७, रैटेन्डन रोड के अहाते की भीड़-भाड़ की हँसी-खुशी इन सबकी मीठी याद अभी मेरे मन से ज़रा भी नहीं उतरी थी। खाली बैठकर समय गँवाने में मुझे शर्म आती थी।

अठारह

पंजाब में स्वागत

वायलेट और मेरी फ़तहपुर की बहनजी ईसाई थीं। शकूर का परिवार मुसलमान था। काश्मीर में छुट्टी मनानेवाला परिवार हिन्दुओं का था। मनजीत और उसके सम्बन्धी सिख थे। दिल्ली में मेरी पहचान हुई थी एक और लड़की, कवल से। वह और उसका परिवार भी सिख था। एक सप्ताह में उसके साथ उसके घर अमृतसर में रही, जहाँ मैंने सिख धर्म की और जानकारी हासिल की।

कवल से मिले मुझे एक वर्ष हो गया था। तब वह दिल्ली में पढ़ा करती थी। चूँकि मेरी कभी उससे घनिष्ठता नहीं हुई थी इसलिए मुझे कुछ संकोच हुआ कि उसके घर वास्तव में मेरा कैसा स्वागत होगा। परन्तु मुझे याद है कि उसका आमन्त्रण कितना प्रेम भरा था और मुझे चिन्ता करने की कोई आवश्यकता न थी। मेरे परिवार के भारत से प्रस्थान करने के थोड़े समय बाद ही उसने मुझे लिखा था:—

यदि तुम अमृतसर आओ तो बड़ा आनन्द रहेगा। तुम जरूर आओ और हमारे साथ ठहरो। मैं बिलकुल सच कहती हूँ और इसमें जरा भी अतिशयोक्ति नहीं है कि यह हमारे लिए बहुत ही हर्ष की बात होगी। मैं तुम्हारे आने का इंतजार करूँगी।

हम तुम्हारे आवास को सफल बनाने के लिए कोई कसर बाक़ी न रखेंगे और मैं हृदय से चाहती हूँ कि तुम जितना अधिक समय निकाल सको, उतने अधिक समय तक हमारे साथ रहो। मेरे मौसा मेरे अभिभावक हैं; वे तुम्हारे भी अभिभावक रहेंगे। मुझे विश्वास है कि तुम उन्हें पसन्द करोगी।

श्रीनगर से दो घण्टे की उड़ान में मैं अमृतसर पहुँच गयी। कवल और उसके मौसा पाँच मील दूर हवाई स्थलपर मुझे लेने आये थे। कवल के चाचा की छोटी-सी मोटर से हम उनके ईंट के पुराने ढंग के सादे मकान में पहुँचे, जो शहर के एक किनारे, छावनी की एक शान्त गली में बना हुआ था। वह एक-मंजिला मकान कुछ-कुछ सबरा के मकान जैसा था—केवल वह उससे कुछ बड़ा था। सबरा के घर में बिजली नहीं थी; इसमें बिजली थी जैसे कि शहर के लगभग सभी घरों में होती है।

कवल ने अपने बड़े और अत्यन्त ही आश्चर्यजनक परिवार के सब सदस्यों से मेरा परिचय कराया—लेकिन एक साथ नहीं। वह मुझे अपना घर दिखाने ले चली और जहाँ जो मिलता गया, वहाँ उसीसे मेरा परिचय कराती गयी। प्रत्येक व्यक्ति के मन मे मेरे प्रति मैत्री और स्वागत की भावना उमड़ी पड़ रही थी।

कवल की परनानी—उसकी माँ की दादी—परिवार में सबसे बड़ी थी। नाना, नानी और नाना की बहन बुज़ुर्गों में शामिल थे। ये भी परिवार के लगभग स्थायी सदस्य थे।

जिन दिनों मैं अमृतसर में थी, उन दिनों नयी पीढ़ी के सदस्यों में थे कवल की मौसी और मौसा (जो मुझे लेने आये थे।) और उसके मामा और मामी तथा उनकी छोटी लड़की।

कवल अमृतसर में अपने मौसा की निगरानी में हाईस्कूल में पढ़ती थी। कवल का अपना परिवार दिल्ली में रहता था।

कवल ने बताया कि उसका अमृतसर का परिवार अधिकांश संयुक्त परिवारों से भिन्न है। आमतौर से दादा ही परिवार के मुखिया हुआ करते हैं; लेकिन यहाँ यह पद नाना को प्राप्त था। रिवाज के मुताबिक उसकी मौसी को विवाह के बाद अपने घर जाना चाहिए था; किन्तु उसके मौसा अपनी ससुराल में आ कर बस गये थे।

यह परिवार डाक्टरों का है। नाना अमृतसर के प्रतिष्ठित डाक्टर हैं। उनकी काफ़ी उम्र है। लेकिन वे निरंतर काम करते रहते हैं और पैसा उन्हीं रोगियों से लेते हैं, जिनकी हैसियत पैसा खर्च करने की होती है। कवल के मामा आँखों के डाक्टर हैं और नवयुवती तथा सुन्दर मामी स्त्रियों की डाक्टर हैं।

कवल के मौसा डाक्टर हैं और अमृतसर के एक लड़कों के कॉलेज में लेक्चरर भी। उनकी पत्नी लड़कियों के हाईस्कूल की प्रिन्सिपल हैं। उसी स्कूल में कवल डाक्टरी के कॉलेज में भर्ती होने के लिए आवश्यक शिक्षा ग्रहण कर रही थी। कवल की मौसी और मौसा के साथ मेरी सब से अधिक घनिष्ठता हो गयी।

मौसा की आयु पचपन वर्ष से अधिक है। वे बड़े सज्जन और सुन्दर हैं। उनके लम्बे-लम्बे बाल सफ़ेद होने लगे हैं, जिनपर वे पगड़ी बाँधते हैं। कवल और उनमें बहुत समानता है। दोनों ही वर्तमान सामाजिक परिस्थितियों के प्रति जागरूक हैं और उन्हें सुधारना चाहते हैं। अपने धर्म के प्रति दोनों को गहरी आस्था है, साथ ही वे और सब धर्मों का आदर करते हैं। बहुत सीधे-सादे, दिखावे से दूर, स्पष्ट-भाषी और ईमानदार हैं ये लोग। मुझे उनसे मिलकर बहुत खुशी हुई।

कवल से मैं अक्सर खूब बातें किया करती थी। मेरे विचारों से जितने उसके विचार मिलते थे, उतने शायद और किसी के नहीं। कवल अधिकांश पंजाबियों की तरह लम्बी, देखने में आकर्षक और हृष्ट-पुष्ट है, उतनी ही गोरी, जितनी कि मैं। उसके बाल गहरे भूरे रंग के हैं, मेरे बालों से जरा गहरे। कवल ने कभी अपने बाल नहीं काटे और उसकी दो लम्बी-लम्बी चोटियाँ उसकी कमर तक झूला करती हैं। वह सादी सूती सलवार और क़मीज़ पहनती है और उसकी दाहिनी कलाई में सिखों का कड़ा हमेशा पड़ा रहता है।

कवल उत्तर प्रदेश के अमरीकी वुडस्टाक स्कूल में पढ़ चुकी थी। वहाँ वह फ्राक पहना करती थी। वहीं उसने अमरीकी बोलचाल के शब्द भी सीखे थे। जब दिल्ली में मेरी उससे भेंट हुई थी, तब वह बेफ़िक्र पश्चिमी रंग की किशोरी थी। उसने अमृतसर में पढ़ने के लिए दिल्ली पब्लिक स्कूल मुझसे पहले ही छोड़ दिया था। अमृतसर ठेठ भारतीय नगर है। उसने आसानी से यहाँ के सादगीभरे जीवन को अपना लिया और उसे ही पसन्द करने लगी।

जब मैं कवल के यहाँ थी, तब वह डाक्टरी पढ़ने के लिए आवश्यक प्राथमिक शिक्षा ग्रहण कर रही थी। उसने हाल में मुझे लिखा है:—

... मैं सशस्त्र सेना के साथ रजिस्ट्रीशुदा नर्स की हैसियत से प्रशिक्षा लेने की तैयारी कर रही हूँ। मेरे परिवारवाले अब भी चाहते हैं कि मैं डाक्टरी पढ़ूँ। लेकिन मेरा ख़याल है कि जब तक अच्छे परिवारों की लड़कियाँ नर्सिंग का पेशा नहीं अपनायेंगी, तब तक इस देश में यह पेशा ऊपर नहीं उठ सकेगा।

एक और पत्र में उसने लिखा है:—

......भारत को पूर्ण उन्नति करने के लिए इतना काम करना है कि वह विशाल-कार्य पूर्णतया असम्भव जान पड़ता है। फिर भी हम धीरे-धीरे किन्तु निश्चयपूर्वक प्रगति कर रहे हैं। मेरी बड़ी कामना है कि एक दिन मैं भारत की जनता को, अपनी जनता की, हमारी जनता की ज्यादा से ज्यादा सेवा कर सकूँ।

कवल की सादगी-भरी दिनचर्या सूरज की पहली किरण फूटने के साथ ५ बजे के पहले ही शुरू हो जाती थी। लगभग साढ़े सात बजे या कुछ पहले हम पराठे और दूध का नाश्ता करते थे। आठ बजे कवल स्कूल चली जाती थी और उसके मामा-मामी और मौसा-मौसी काम पर चले जाते थे। दोपहर का खाना लगभग डेढ़ बजे सभी के घर लौट आने पर होता था। वह खाना बड़ा पौष्टिक होता था और शायद इसी भोजन ने पंजाबियों की गिनती भारत के सबसे स्वस्थ व्यक्तियों में करवायी है।

खाने में हमेशा बहुत सारे फल, सब्जियाँ, दूध, दही और गेहूँ की एक विशेष प्रकार की सफ़ेद रोटी रहती थी। मैंने और परिवार वालों के साथ चपातियाँ, पराठे और पूड़ियाँ खायी थीं। यह रोटी इन सबसे बड़ी होती थी और पकाई भी दूसरे ढंग से जाती थी। खाना बड़ा स्वादिष्ट होता था और मैं बिना किसी हिचक के भरपेट भोजन करती थी।

भोजन के बाद कवल और मैं दोपहर ढलने तक सोते थे या बातें करते थे। फिर दूध, बिस्कुट या मिठाई का नाश्ता करके हम या तो डाक्टरी के स्कूल के मन्दिर को चल देते थे या कोई मैच देखने या सिर्फ़ घूमने-फिरने। रात को नौ बजे खाना खाने के समय तक हम लौट आते थे। फिर कवल अपनी पढ़ाई करती थी और मैं भी कुछ पढने बैठ जाती थी। कभी हम सिलाई करतीं या बातें भी करती थीं और लगभग ग्यारह बजे सो जाती थीं। हम छत पर सोतीं, जहाँ नींद खूब अच्छी आती थी।

अमृतसर में मैं ज्यादा न ठहर सकी। फिर भी मैंने उस पुराने और भीड़-भाड़वाले नगर का कुछ हिस्सा देखा; विश्वविद्यालय और प्राइवेट कालेज देखे, और सिखों का दरबार साहब देखा जिस पर सिखों को गर्व है। इसके गुम्बज पर सोना चढ़ा हुआ है, इसलिए इसे 'स्वर्ण-मन्दिर' भी कहते है।

मेरे भारत से चले आने के बाद कवल ने मुझे अपने नगर के बारे में लिखा—

अमृतसर अधिकांश नगरों से भिन्न है। नृत्यों और रात गये तक के आमोद-प्रमोद आदि का कृत्रिम सामाजिक जीवन यहाँ नहीं है। यहाँ के सारे वातावरण में और विशेषतया दरबार साहब के वातावरण में शान्ति और सौम्यता है। अमृतसर के लोग बड़े धार्मिक हैं, परन्तु धार्मिक पागलपन उनमें नहीं है। और तुम जानती ही हो, जहाँ विश्वास रहता है, वहीं प्रेम और सुख का निवास होता है। ऐसे हैं हम लोग, सिन्थिया, यहाँ! और शायद सारे भारत में। मेरा ख़याल है कि जब तक हम लोग पश्चिमी देशों की नकल नहीं करते तब तक ऐसे ही रहेंगे।

अमृतसर पंजाब प्रान्त के उस उत्तर-पश्चिमी भाग में है, जिसे अब पूर्वी पंजाब कहते हैं; और वह पाकिस्तान की हद से दूर नहीं है। अब अधिकांश सिख यहाँ पूर्वी पंजाब में बस गये हैं। उनके दस गुरुओं में से नौ गुरुओं ने यहाँ और पश्चिमी पंजाब में, जो अब पाकिस्तान में है, जन्म लिया और अपने धर्म का उपदेश दिया।

सिख-धर्म के अनुयायियों की संख्या साठ लाख है। यह धर्म उत्तर भारत में ज़्यादा फैला हुआ है, खास कर पंजाब और दिल्ली में। वास्तव में यह हिन्दू धर्म की शाखा है और इस्लाम तथा ईसाई धर्म से कुछ मिलता-जुलता है। कवल के शब्दों में, "सब धर्मों की जिन बातों को हम अच्छा मानते हैं, उन्हें हमने ग्रहण किया है।" सिखों के ग्रंथ साहब में अनेक धर्मों के गुरुओं और सन्तों की वाणी में भगवान् की स्तुति की गयी है।

गुरु नानक ने, जिनका जीवन-काल सन् १५०० के लगभग का है—भारत में हिन्दुओं और मुसलमानों के उस समय के रीति-रिवाजों के विरुद्ध यह धर्म चलाया था। उन्होंने किसी नये धर्म का उपदेश नहीं दिया, केवल विभिन्न धर्मों के लोगों में भाईचारे के लिए आग्रह किया। उन्होंने कहा—"प्रत्येक धर्म के सन्तों से प्रेम करो; सिर मुडाकर नहीं, लम्बी-लम्बी प्रार्थनाओं से नहीं, भजनों और शारीरिक कष्टों से नहीं, संन्यासियों के मार्ग से नहीं, किन्तु संसार के आकर्षणों के बीच अच्छाई और पवित्रता के जीवन से।"

उन्होंने हिन्दुओं की वर्ण-व्यवस्था का विरोध किया—"जात-पाँत निरर्थक है। ईश्वर मनुष्य से उसका जन्म नहीं पूछेगा; वह उससे पूछेगा, उसने क्या कर्म किये।" उनकी वाणी उनके एक ईश्वरवादी होने का प्रमाण देती है—"ईश्वर एक है, जिसका नाम सत् है। वही स्रष्टा है; भय और राग-द्वेष से रहित, अजर-अमर, अजन्मा, स्वयंसिद्ध, विराट् और कृपालु है।"

गुरु नानक के विश्वास जब नये धर्म के आधार के रूप में स्थापित हो गये तो बाद में वही आडम्बर, जिसका उन्होंने ज़ोरों से विरोध किया था, उसमें घुस आया। आज कट्टर सिख के लिए ज़रूरी है कि वह केश न कटाये, कड़ा धारण करे, कृपाण रखे (भले ही वह नाममात्र को इंच भर की हो।), कंघा लगाये (यह भी भले हो नन्हा-सा—बालों में होना चाहिए) और कच्छा पहने। घर के बाहर और पूजा की जगहों में अपने सिर को ढँके रखना उसके लिए आवश्यक है। सिख अपने लम्बे बालों में कंघी करते हैं और उनपर साफ़ा बाँधते हैं जैसा कि कवल के मौसा और मामा करते थे।

एक दिन मैं, कवल, उसके मौसा और मौसी के साथ रात को दरबार साहब गयी। दरबार साहब सिखों का और बहुत-से ग़ैर-सिखों का भी तीर्थ-स्थान है। सिख धर्म पहले-पहल इसी के चारों ओर पनपा और फला-फूला।

मन्दिर का भवन बहुत बडा है और पानी से भरे एक तालाब के बीचो-बीच स्थित है। लेकिन मुझे उसकी विशालता ने प्रभावित नहीं किया। मैं प्रभावित हुई उन भक्तों के श्रद्धापूर्ण भावों से, जो वेदी को घेरे हुए थे। सिर ढँक कर हम एक छज्जे के फ़र्श पर बैठ गये और वाणियाँ सुनते रहे। छज्जे से वेदी साफ़ दिखायी देती थी। पूजा करनेवाले आते थे और चले जाते थे। उनका ताँता लगा था। मन्दिर में आ कर सिख घुटने टेक कर फ़र्श पर मत्था टेकते हैं। वेदी पर ग्रंथ साहब का पाठ होता रहता है और भक्त वेदी की परिक्रमा करते हैं ; इच्छा हो तो रुक कर वाणियाँ भी सुनते हैं।

हम बहुत देर बैठे रहे। किन्तु समय कैसे बीत गया, इसका पता ही नहीं चला। मेरी कभी-कभी इच्छा होती है कि काश मैं इस समय अमृतसर में होती ताकि हर रोज़ रात को जाकर मन्दिर में बैठ पाती।

मैं मन्दिरों में पहले भी गयी थी, लेकिन उनमें से किसी-किसी में ही मैंने शान्ति और भक्ति के ऐसे वातावरण का अनुभव किया था। कलकत्ते में मुझे ऐसी ही, किन्तु कुछ कम अंश की, पावन भावना का अनुभव हुआ था। उस मन्दिर में बड़ी भीड़ थी और गंदगी भी। भगवती काली की उसमें पूजा होती थी। हिन्दुओं का एक सम्प्रदाय काली को पूजता है। भक्त देवी की मूर्ति पर फूल और पैसे चढ़ाते थे। कुछ लोग उसके सामने बैठ कर भजन करते थे और कुछ मानो समाधिस्थ हो जाते थे। पूजा करने वाले अपनी इच्छा के अनुसार

आते-जाते और पूजा करते थे।

कलकत्ते का एक और मन्दिर भी हमने देखा। वह बिलकुल साफ़-सुथरा और सुन्दर मन्दिर जैनों का था। जैन छोटा-सा सम्प्रदाय है। परन्तु अपनी धर्म-परायणता के लिए भारत में प्रसिद्ध हैं। ये लोग पूर्ण अहिंसा और अपरिग्रह में विश्वास करते है। छोटे-से-छोटे जीव की हत्या करना भी पाप समझते हैं। कुछ कट्टर जैन अपनी नाक और मुँह को कपड़े से ढँके रहते हैं ताकि साँस लेने से कीटाणुओं की हत्या न हो। उनके मन्दिर की दीवारें, फर्श और छत कटे हुए शीशे और संगमरमर से मंडित थीं। मन्दिर बड़ा नहीं था, लेकिन सुन्दरता में मैंने पूजा का कोई स्थल उसके जैसा नहीं देखा।

अपनी नेपाल-यात्रा में हमने हिन्दुओं और बौद्धों के अनेक मन्दिर देखे। शुरू में इस पहाड़ी देश के लोग हिन्दू थे। ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी में भारत के एक महान् राजा सम्राट अशोक ने अपने देश से पहाड़ों के पार यहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार किया। कुछ ही समय में नेपाल की अधिकांश जनता बौद्ध हो गयी। अब यद्यपि दोनों धर्मों हिन्दू और बौद्ध का बहुत-कुछ सम्मिश्रण हो गया है, फिर भी ज्यादातर लोगों ने फिर से हिन्दू धर्म अपना लिया है।

एक रोज़ सुबह हम लोग मोटर से स्वयंभूनाथ के मन्दिर की तलहटी तक गये और लगभग छः सौ सीढ़ियाँ चढ़ कर मन्दिर में पहुँचे। नेपाल में यह बौद्धों का सबसे प्रसिद्ध मन्दिर है। इस मन्दिर में तिब्बतवासियों का एक मठ है। तिब्बत से लोग इसकी यात्रा करने आते हैं। हमें इसमें प्रवेश करने दिया गया।

छोटे-से मुख्य प्रार्थनागृह में काफ़ी अंधेरा था। लगभग बारह भिक्षु फ़र्श पर दो पंक्तियों मे बैठे थे। उनके सामने बड़ी-बड़ी खुले हुए पन्नों की पवित्र पुस्तकें रखी थीं जिनमें से वे पाठ कर रहे थे। भिन्न-भिन्न उतार-चढ़ाव की बारह ध्वनियाँ मधुर तो नहीं थीं, परन्तु आनन्ददायिनी अवश्य थीं।

नेपाल और भारत के दूसरे मन्दिरों की तरह इस मन्दिर में भी एक छोटा-सा कक्ष था, जिसकी दीवारों पर बुद्ध की जीवनी के कुछ चित्र बने थे। (दूसरे मन्दिरों में ये चित्र उन देवताओं से सम्बन्धित थे जिनके कि वे मन्दिर थे।) मन्दिर के इस कक्ष में बुद्ध के चित्रों के अतिरिक्त एक और आश्चर्यजनक चित्र था—बुद्ध, क्रॉस पर चढ़े हुए ईसा और गांधीजी का—जिस पर शीर्षक था "मानवता की सेवा।" सभी धर्मों के सम्बन्ध में संसार को यह एक शिक्षा थी।

जून का एक सुहावना दिन था। जब मैंने कवल और अपने इस नये परिवार के हर सदस्य, नरनारी से लगा कर नौकर तक से अन्तिम बार 'सत् श्री अकाल" कह कर विदा ली, तब मेरा गला भर आया। मेरे मन में उस वक्त यही कामना थी कि फिर शीघ्र ही हमारा मिलन हो। आशीर्वाद और उपदेश से भरे नानी के अन्तिम शब्द थे—"खूब पढ़ो। ज्यादा विद्या पाओ।"

उन्नीस

घर से विदा

जून का अन्त जल्दी—बहुत जल्दी आ गया। मेरा जहाज़ जुलाई के शुरू में रवाना होने वाला था। रवानगी की तारीख की सूचना अमेरिकन एक्सप्रेस कम्पनी से किसी भी दिन आने को थी।

शनिवार, २० जून को तीसरे पहर में अहाते में अंग्रेज़ी पढ़ा रही थी। रामदास मेरी गोद मे बैठा था। तभी शकूर ने मुझे घर मे बुलाया। मेरा टेलिफोन था, जो अमेरिकन एक्सप्रेस ने किया था। मेरा जहाज़ २ जुलाई को मार्सेल्ज़, फ्रान्स के लिए रवाना होनेवाला था। जिनोआ, इटली से दूसरा जहाज पकड़कर मै जुलाई के आखिर में न्यूयॉर्क पहुँच सकती थी।

अगले दिन सुबह अपने मित्रों से आखिरी बार विदा लेकर मैं बम्बई की गाड़ी में सवार हुई। दिल्ली मेरा घर था। उससे और उसके लोगो से बिछुड़ने का मुझे बड़ा दुःख हुआ।

बम्बई के रास्ते में मैंने एक दिन के लिए एक पारसी परिवार के साथ, जो मेरे काश्मीर के मेज़बान-परिवार का मित्र था, ठहरने की योजना बनायी थी। उस परिवार का घर बम्बई राज्य के मराठी-भाषी उत्तर-पूर्वी भाग मे, हैदराबाद की सीमा से लगे हुए नगर जलगाँव में था।

दोपहर ढलने के बाद दक्षिण-पश्चिम जानेवाली मेरी गाड़ी ने विन्ध्याचल के वीरान इलाक़े में प्रवेश किया। अगले दिन सुबह झुटपुटे में हम जलगाँव पहुँचे। लगभग मेरी उम्र का एक लड़का और एक लड़की मुझे लेने स्टेशन आये थे।

दोनों मेरे मेज़बान के बच्चे थे।

इस पारसी परिवार के साथ दिन बड़े आनन्द से गुज़रा। मेरे मेज़बान, जो कुटुम्ब के पिता थे, पहले शराब की दुकान चलाया करते थे। बम्बई राज्य में शराब-बन्दी लागू हो जाने से उनका व्यापार बन्द हो गया था। उनकी दुकान की इमारत को तब होटल का रूप दिया जा रहा था।

परिवार के सभी सदस्य थोड़ी-बहुत अंग्रेज़ी बोलते थे। उनकी भाषा मराठी थी, जो हिन्दी से मिलती-जुलती भाषा है। उनका धर्म पारसी था। पारसी पैगम्बर ज़रदुश्त के अनुयायी हैं। ईसा से लगभग ६०० वर्ष पूर्व ज़रदुश्त ने ईरान में अपना मत चलाया था। उसी मत के ये लोग थे। अत्याचारों के कारण इन लोगों ने भागकर भारत के मैत्रीपूर्ण वातावरण में शरण ली और पारसी सम्प्रदाय स्थापित किया। आज यह छोटा-सा सम्प्रदाय मुख्यतया बम्बई क्षेत्र में बसा हुआ है।

अधिकांश पारसी ख़ूब पढ़े-लिखे हैं और पश्चिमी ढंग अपना चुके हैं। अनेक सफल व्यापारी हैं। पारसी पुरुषों का पहनावा बिलकुल अलग है। मैंने बम्बई में जो पारसी देखे—वे कोट, पतलून और एक ख़ास तरह की गोल टोपी पहने और हाथ में छड़ी लिए एक ख़ास शान के लोग दिखायी देते थे।

बरसात का मौसम अभी दिल्ली में तो शुरू नहीं हुआ था, लेकिन बम्बई में जारी हो गया था। उत्तरी हैदराबाद की अनेक छोटी-छाटी नदियों में बाढ़ आ रही थी। मैं और मेरे मेज़बान साइकिलों पर जलगाँव के बाहर आठ मील का रास्ता तय करके एक ऐसी ही नदी देखने गये। गाड़ियों के पार होने के लिए नदी के बीच, कुछ उठी सड़क-सी बनी थी। साधारण समय में इससे काम चल सकता था, लेकिन बरसात के दिनों में वहाँ तीन फुट तक पानी चढ़ आता था। जब हम वहाँ पहुँचे, तब चौबीस घंटे पड़े रहने के बाद कुछ लारियाँ और बसें पुल पार कर रही थीं; बहुत-सी अभी खड़ी ही थीं। पार आनेवाली गाड़ियाँ तेज़ बहाव में धीरे-धीरे आगे बढ़ रही थीं। उनके पहिये लगभग पानी में डूबे हुए थे।

हमारी तरफ़ से दो किसानों ने लगभग आठ गायें और कुछ बछड़े पार ले जाने के लिए नदी में उतारे। उनमें आधे से ज्यादा पानी की धार में बह चले और थोड़ी देर बाद कुछ इस किनारे लगे, कुछ उस किनारे।

मेरे मेज़बान ने मुझसे कहा—"तीन महीने की गर्मी के बाद बरसात का

उत्सुकता से इन्तज़ार किया जाता है। किन्तु साधारणतया बरसात सूखी नदियों को तूफ़ानी नदियाँ बना देती है और बम्बई नगर के पास के नीचाई वाले भू-भाग में बाढ़ ला देती है। यहाँ लगभग हर रोज़ पानी बरसता है और डेढ़ महीने का बारिश का मौसम खत्म होने से पहले-पहले यह नदी तथा इस क्षेत्र की ऐसी दूसरी नदियाँ पानी से लबरेज़ हो जायंगी। फिर भी वसन्त में शायद सूखा ही पड़ेगा।"

मेरे मेज़बान की लड़की—पेरीन ने मुझे जलगाँव घुमाया। खासे बड़े शहर की सभी सुविधाएँ इस नगर में हैं। औरतों और बच्चों का एक पार्क है; एक सिनेमाघर है और बाज़ारों में ज़रूरत की सभी चीजें मिलती हैं। नगर में कपड़े की दो मिलें हैं। इनमें से एक पेरीन के घर के सामने ही है।

पेरीन की छोटी बहन जलगाँव की प्राथमिक शाला में पढ़ती थी। इस प्राथमिक शाला के अतिरिक्त नगर में एक माध्यमिक शाला है, एक सरकारी और एक गैर-सरकारी हाईस्कूल है और एक कृषि-विद्यालय है। तीन बजे के लगभग स्कूलों की छुट्टी होने से सड़कों पर बच्चों की भीड़ हो जाती थी। कही छोटे-छोटे बच्चे एक-दूसरे का हाथ थामे चले जाते थे। कहीं बच्चे भागते-दौड़ते, एक-दूसरे से छेड़-छाड़ करते निकलते थे। साफ़-सुथरी किशोरियों के हाथ में किताबों के मोटे-मोटे बस्ते रहते थे।

दोपहर का भोजन करके पेरीन और मैं सड़क की भीड़-भाड़ देखने के लिए मकान की दूसरी मंजिल के छज्जे पर जा पहुँची। गुज़रनेवालों में ज्यादा लोग मराठी थे। नौ-नौ गज की हरी, लाल, नीली या बैंगनी साड़ियाँ सफ़ाई के साथ बाँधे हुए कुछ औरतें पेरीन ने मुझे दिखायीं। बड़ी आज़ादी के साथ वे चली जा रही थीं। उन्होंने जिस ढंग से साड़ियाँ बाँध रखी थीं, वह दिल्ली की औरतों के ढंग से जुदा था, और उतना सुन्दर भी नहीं था।

कुछ गुजराती महिलाएं भी थीं। उन्होंने छः-छः गज़ की साड़ियाँ एक तीसरे ही तरीक़े से बाँध रखी थीं। उत्तर मध्यभारत की मारवाड़ी औरतें ज़बर्दस्ती घूँघट निकाले हुए थीं और खूब ज़ेवर पहने थीं। वर्तमान पश्चिम पाकिस्तान के दक्षिणतम भागों से आयी हुईं सिंधी महिलाओं ने पर्दा छोड़ दिया है, परन्तु उनकी दादियों को कठोर पर्दे में रहना पड़ता था। ये महिलाएँ पंजाबी औरतों की-सी सलवार व क़मीज़ से तुरन्त पहचान ली जाती थीं।

पुरुषों के पहनावे से उनके प्रान्त का ऐसा साफ़ पता नहीं चलता था। कभी-कभी कोई पारसी या कट्टर अहिंसावादी जैन सम्प्रदाय का कोई सदस्य नंगे पैर गुज़र जाता था।

रात के भोजन के कुछ देर बाद मैं बम्बई की गाडी में सवार हुई और सुबह तड़के ही बम्बई के एक उपनगर, दादर में पहुँच गयी।

अन्तर्राष्ट्रीय रहन-सहन के प्रयोग (एक्सपेरिमेण्ट इन इंटरनेशनल लिविंग) के द्वारा मैंने अपने जहाज़ के रवाना होने तक एक गुजराती दम्पति के यहाँ ठहरने का इन्तज़ाम कर लिया था। ये दम्पति दादर के पास बम्बई के एक और उपनगर माटुंगा में रहते थे। कई फ़्लैटों वाली एक इमारत में तीन कमरों का एक फ़्लैट उनका घर था।

अपने इन नये मित्रों से मिलते ही मुझे इसमें तो कोई सन्देह नहीं रहा कि मुझे अपने यहाँ रखने में उन्हें बड़ी खुशी है। मालती बहन सुन्दर और हँसमुख महिला है। घर का कामकाज करने और रसोई बनाने के अलावा वह एम. ए. में अर्थ-शास्त्र की छात्रा है। उसके पति नवयुवक वकील हैं और बम्बई के उच्च-न्यायालय में वकालत करते हैं।

बम्बई में गर्मी के कारण काम और स्कूल का समय ग्यारह बजे सुबह से लगभग सात बजे शाम तक रहता है। इसलिए मालती और उसके पति की दिनचर्या उन अधिकांश परिवारों से भिन्न थी, जिनके साथ मैं अब तक रही थी। वे रोज़ सुबह छः बजे थोड़ा-सा दूध पीते या कुछ फल खाते। फिर मालती भोजन बनाती। उसके पति दस बजे काम पर जाते थे और हम लोग इसके पहले ही भोजन कर लेते। जिन दिनों मैं मालती के यहाँ थी, उन दिनों उसकी क्लासें नहीं लग रही थीं। इसलिए भोजन करके हम अक्सर बम्बई के दर्शनीय स्थान देखने या मालती के मित्रों और सम्बन्धियों से मिलने-जुलने या खरीदारी करने निकल जाते थे। पाँच बजे हम जहाँ भी होते, वहाँ ज़रा डट कर चाय पीते और फिर घर लौट आते ताकि मालती खाना बना ले।

खाना बड़ा स्वादिष्ट होता था। मुझे जब भी मौका मिलता, मैं उसका खाना पकाना देखा करती थी और उससे मैंने कई बातें सीखीं। वह और उसके पति पक्के शाकाहारी हैं। वे अंडे भी नहीं खाते। मालती गुजराती हिन्दू है और उसके

पति कट्टर जैन परिवार के हैं। मालती ने मुझे बताया कि रसोईघर के तिलचट्टे (काक्रोच) मारने की अनुमति भी उसने अपने पति से काफी बहस के बाद प्राप्त की।

क्षेत्रफल और आबादी के लिहाज से बम्बई भारत का दूसरा बड़ा नगर है। किसी विशेष वर्ग के लोगों का क्षेत्रीय नगर यह नहीं है; बल्कि गुजराती-भाषी प्रदेश की दक्षिणी और बम्बई तथा हैदराबाद राज्यों के मराठी-भाषी प्रदेश की पश्चिमी और उत्तरी सीमा है। अधिकांश आबादी गुजराती और मराठी-भाषी लोगों की है। लेकिन बम्बई में कई दूसरी भाषाएँ बोलनेवाले, कई धर्मों के और कई प्रान्तों के लोग रहते हैं।

विभाजन के बाद बम्बई ने विस्थापितों का हृदय से स्वागत किया और अब उसकी सड़कों की भीड़-भाड़ में सिन्धी, हिन्दू और सिख-पंजाबी भी अपने दक्षिणी भाइयों के साथ कंधा मिला कर चलते हैं। मध्य भारत से मारवाड़ियों और उत्तर प्रदेश के ग्रामीणों के, जो यहाँ काम की तलाश में आये, छोटे-छोटे समुदाय हैं।

बम्बई में पंजाबी आपको ट्रकों और बसों को चलाते हुए तथा गैरेजों में मैकेनिकों का काम करते हुए मिलेंगे। यहाँ का मज़दूर-वर्ग, जिसका अधिकांश बम्बई की अनेक कपड़ा मिलों में नियुक्त है और बम्बई का बुद्धिजीवी वर्ग—लेखक, शिक्षक और विद्वान्—मुख्यतया मराठी हैं। अधिकांश दुकानें और व्यापार गुजरातियों और पारसियों के हाथ में हैं।

विभाजन के समय भयंकर दंगे होने के बावजूद बहुत-से मुसलमान बम्बई में बसे हुए हैं। ज्यादातर पारसी यहीं रहते हैं। कुछ ईसाई और सिख भी हैं, जैसे कि भारत के हर नगर में पाये जाते हैं।

नगर की भीड़-भाड़ वाली सड़कों पर भिन्न-भिन्न तरह के रीति-रिवाज और पहनावे वाले तथा भाषाएँ बोलने वाले इतने लोग गुजरते हैं कि उनकी चहल-पहल देखते ही बनती है। लेकिन आपको यह पता नहीं लगेगा कि इस विशाल देश के किस भाग में आप आ गये हैं।

बम्बई में जनसाधारण की भाषा हिन्दुस्तानी है। राष्ट्रभाषा होने के कारण इसने इस नगर में भी, जो हिन्दुस्तानी-भाषी क्षेत्र नहीं है—यह स्थान प्राप्त किया है। ट्रामों और बड़ी-बड़ी दो-मंजिली बसों में, जिनसे मालती के साथ मैं

इधर-उधर आया-जाया करती थी—कण्डक्टर किराया हिन्दुस्तानी में माँगते थे। ज्यादातर दुकानों में दुकानदार से मोल-तोल हिन्दुस्तानी में होता था। और उस भीड़-भाड़ वाले बाज़ार में, जहाँ से मालती रोज़ घर लौटते वक़्त संध्या के भोजन के लिए शाक-भाजी खरीदती थी, चीज़ों का भाव-ताव हिन्दुस्तानी के द्वारा ही होता था।

मालती और उसके पति ने मेरी बड़ी आवभगत की। मुझे नगर की दिलचस्प चीज़ें दिखाने के लिए उन्होंने जो कष्ट किया, उसके लिए हमेशा मैं उनकी आभारी रहूँगी। हम लोगों का संयोग एक सप्ताह से ज़रा ही ज्यादा समय के लिए हुआ; फिर भी मुझे लगा कि भारत से विदा होने में शोक और हर्ष का जो मिला-जुला अनुभव मुझे हो रहा था, उसे वह अच्छी तरह समझ गयी। मुझे खुशी थी कि भारत में मेरा अन्तिम सप्ताह उनके साथ बीता।

मंगलवार, २ जुलाई की सुबह बड़ी सुहावनी थी; ऐसी सुहावनी जिसकी कि मुझे बरसात के दिनों में हर्गिज आशा नहीं थी। मैंने सोचा मुझे भारत में सूर्योदय देखने का अवसर फिर कब मिलेगा ?

दस बजे मैं बन्दरगाह पर पहुँच गयी ताकि एक बजे जहाज़ के रवाना होने तक मैं आम सरकारी कार्यवाहियों से छुट्टी पा जाऊँ। अपने पासपोर्ट की जाँच कराने के लिए क़तार में खड़े होकर मैं अपना दुःख भूल गयी। अब सबसे ज्यादा मुझे उस अनिश्चित भविष्य के प्रति शंका थी। जहाज़ के सफ़र की लम्बी-लम्बी घड़ियों में मुझे बार-बार खयाल आया कि इस शंका की तह में भारत से विदा होने का मेरा गहन शोक छिपा था उस देश से विदा होने का, जहाँ मैंने बहुत-कुछ सीखा था, और जिसके लोगों के प्रति मेरे हृदय में अपनत्व की भावना घर कर गयी थी। लेकिन विदाई के क्षणों में मैं न तो उसे स्पष्ट समझ सकी थी, न व्यक्त ही कर सकी थी।

दोपहर को, मैं उस विशाल ब्रिटिश जलपोत में सवार हुई। एक बजने के थोड़ी देर बाद बन्दरगाह में रास्ता साफ़ हो गया और जहाज़ धीरे-धीरे अरब-सागर में चल पड़ा। मैं चुपचाप टकटकी लगाकर बम्बई का किनारा तब तक देखती रही, जब तक कि वह आँखों से ओझल नहीं हो गया।

बीस

उपसंहार

मैं भारत को अपना दूसरा घर मानती हूँ। एसेक्स के अतिरिक्त केवल वहीं मुझे प्रबल रूप से अपनत्व का अनुभव हुआ। मुझे आशा है कि क दिन कालेज की पढ़ाई पूरी करके और जन-स्वास्थ्य परिचारिका की विशेष शिक्षा प्राप्त कर मैं अपने दूसरे घर लौटूंगी।

एक दिन जब मैंने सुमन से भारत और भारत के लोगों के प्रति अपने नेह की बात कही, तो वह मुझसे बोली—"तुम अभी छोटी हो और इस उम्र सब चाहते हैं कि कोई उन्हें प्यार करे; उन्हें लगे कि किसी को उनकी रूरत है, कोई उनकी क़द्र करता है। हमने तुम्हें अपना बनाया और तुम्हें यार किया। हमने अपने घरों में तुम्हारा स्वागत किया। ईविन अस्पताल ौर परिचर्या-गृह में तुम्हारी आवश्यकता थी और तुम्हारी क़द्र की गयी। मैं छती हूँ कि तुम्हारा लगाव सचमुच भारत से है या प्यार और क़द्र की उस ावना से, जो हमने तुम्हारे प्रति दिखायी।"

मैं समझती हूँ कि भारत के लिए मेरा प्रेम उन लोगों के प्रति आभार ी भावना मात्र नहीं है, जिन्होंने मेरे प्रति आत्मीय-सा व्यवहार किया।

संभवतः मेरे इस आकर्षण का मुख्य कारण वह सरल जीवन है, जिसका ंने दिल्ली, चावला, शान्तिनिकेतन, मढ़ेरा, फ़तहपुर, बरखुरदारपुर, नंगल और ामृतसर में अनुभव किया।

उसका कुछ भाग उस सौंदर्य और अनेकरूपता से जुड़ा है, जो मैंने अपने ासपास, खास कर गाँवों में देखी।

कुछ भाग उस प्रशंसा से जुड़ा है, जो मेरे मन में यह देख कर जागी कि ह देश अपने देशवासियों को एक सुन्दरतर जीवन की ओर ले जाने को ृत-संकल्प है।

परन्तु उसका मुख्य भाग जुड़ा है—सुमन, शकूर, नलिनी, कवल तथा ऐसे नेक दूसरे मित्रों से। इन मैत्रियों से मैंने यह तो सीखा ही कि पूर्व और

पश्चिम का मिलन संभव है। यह भी समझा कि भारत की लड़की और अमरीका की लड़की में इतना अंतर नहीं होता जैसा कि अक्सर सोच लिया जाता है। मैंने अनुभव किया कि अपने अंतर की गहराइयों में मेरे मित्र और मैं बहुत-कुछ समान ही है।

क्या यह बात सभी लोगों के लिए सही नहीं है ? मुझे तो लगता है कि लोगों के बीच अंतर केवल ऊपरी सतह का होता है। हमारा रंग, हमारी भाषा, हमारा भोजन, हमारा पहनावा आदि का अन्तर केवल बाहरी बातों में होता है।

सांस्कृतिक स्तर पर भी हममें अन्तर है। भारत और अमरीका में जीवन की शैली भिन्न-भिन्न है। उनके काम के तरीक़े अलग हैं, उनके खेल अलग हैं। स्वास्थ्य, शिक्षा और कृषि के अमरीकी माप फ़िलहाल भारत पर लागू नहीं हो सकते। यहाँ तक कि एक संस्कृति के आंतरिक सत्य—उसके भले और बुरे—के मापदंड दूसरी संस्कृति के मूल्यांकन में व्यवहृत नहीं हो सकते।

अक्सर ये बाहरी दिखावे के अन्तर, रहन-सहन और काम-काज के ही नहीं, सोचने-विचारने के भी विभिन्न तरीक़े और मापदण्ड आपसी सम्पर्क, समझ-बूझ और मैत्री के मार्ग में अपरिमेय बाधाओं का रूप धारण कर लेते हैं। किन्तु इस भौतिक तथ्य के अतिरिक्त कि हम सब मानव हैं, क्या कोई ऐसी अधिक महत्वपूर्ण चीज़ नहीं है, जिसमें दुनिया के सभी लोग अपनी-अपनी विभिन्न संस्कृतियों के उपरांत भी बराबरी के हिस्सेदार हैं ? क्या कुछ सर्वव्यापी दृष्टिकोण और भावनाएँ ऐसी नहीं हैं, जो हम सबके लिए समान हैं ? क्या एक ऐसी महान और मूलभूत समानता विद्यमान नहीं है, जो संसार के लोगों के भेदों से कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण है ?

मुझे लगता है कि वह अवश्य है, और मुझे विश्वास है कि उसी के आधार पर, सांस्कृतिक सीमाएँ पार करके सच्ची मैत्री की स्थापना की जा सकती है।

इस बात का ज्ञान और इसकी चेतना कि मानव जाति के अंतरस्थ स्वप्न लगभग समान ही हैं, विश्व में पारस्परिक समझ और सहानुभूति को प्रगाढ़ बनाने में बड़ी सहायक हो सकती है। एक दूसरे को समझने से मित्रता उपजती है, और मित्रता ही शान्ति की धात्री बनेगी—ऐसा हमारा अविचल विश्वास है।

अन्य प्रकाशन

- ★ योगी और अधिकारी
- ★ थॉमस पेन के राजनैतिक निबंध
- ★ शस्त्र-विदाई
- ★ शांति के नूतन क्षितिज
- ★ स्वातंत्र्य-सेतु
- ★ वधू का ग्राम प्रवेश
- ★ अध्यक्ष कौन हो?
- ★ फिलिपाइन में कृषि सुधार
- ★ मनुष्य का भाग्य
- ★ अमेरिकन शासन प्रणाली
- ★ अमेरिका में प्रजातंत्र
- ★ डा. आइन्स्टीन और ब्रह्माण्ड
- ★ अनमोल मोती
- ★ जीवट के शिखर

पर्ल पब्लिकेशन्स प्राइवेट लिमिटेड, बम्बई-१
भारत में वितरक
इण्डिया बुक हाउस
२४९, डॉ. दादाभाई नवरोजी रोड, बम्बई-१